ॐ

आत्मार्पणस्तुति

अप्पय्य दीक्षित भगवान् शंकर के परम भक्त थे। वेदान्त की परिसीमा के ये ग्रन्थ माने जाते है - वेदान्त शास्त्र अर्थात् ब्रह्मसूत्र उसकी व्याख्या शांकरभाष्य, उसकी टीका भामती, उसका व्याख्यान कल्पतरु और उसकी व्याख्या परिमल। गौड ब्रह्मानन्द सरस्वती ने 'वेदान्तशास्त्र' शब्द का अर्थ ही लिखा है 'शारीरकमीमांसारूप चतुरध्यायी तद्भाष्य - तदीयटीकावाचस्पत्यतदीयटीका कल्पतरु - तदीयटीका - कल्पतरुपरिमल - रूपग्रन्थपंचकेत्यर्थ:'। परिमल को लिखने वाले अप्पय्य दीक्षित हुए। उन्होंने एक सौ आठ ग्रन्थ लिखे, अनेक शास्त्रार्थ किये, सब में विजयी रहे। उन दिनों विजयी का कनकाभिषेक होता था। उस धन से अप्पय्य पाठशाला बना देते थे। वृद्ध हुये तो एक बार मन में संदेह हुआ कि 'जाग्रत् काल में तो भगवान् शंकर की वासना दृढ रहती है पर क्या मेरी वासना इतनी दृढ हो गई है कि हर क्षण भगवान् शंकर का चिंतन रहे? अन्त काल में कफ, वात और पित्त - तीनों धातु बढ़ जाते हैं, उस समय हज़ार बिच्छु एक साथ काटने जैसा दर्द होता है, उस समय चेतन मन से शिव-चिन्तन कर सकूँ यह सम्भव नहीं। अत: मेरे अचेतन मन में परमात्मा

की वासना दृढ है या नहीं इसकी परीक्षा करनी चाहिये। परीक्षा तब हो जब मनुष्य होश में न हो। किसी की मातृभाषा का पता लगाना हो तो उसे गहरी नींद में सोये को उठाओ, झट अपनी मातृभाषा में बोलेगा। यदि मैं भी नशे में चला जाऊँ होश न होवे, तब पता लगे मेरे मन में क्या वासना है'। यह सोचकर अप्पय्य ने भांग का सेवन किया और शिष्यों से कहा 'जो मैं नशे में बडबडाऊँ वह लिख लेना'। नशे में वे जो बोले वह यह आत्मार्पणस्तुति है। बाद में इसे देखकर उन्हें निश्चय हो गया कि परमात्मा में उनकी स्थिति दृढ है।

कस्ते बोद्धुं प्रभवति परं देवदेव प्रभावं
यस्मादित्थं विविधरचना सृष्टिरेषा बभूव।
भक्तिग्राह्यस्त्वमिह तदपि त्वाहमहं भक्तिमात्रात् ।
स्तोतुं वांछाम्यतिमहदिदं साहसं मे सहस्व ।।१।।

हे देव देव! जिनसे इस तरह नाना प्रकार की रचना वाली यह सृष्टिउत्पन्न हुई उन आप के उत्तम प्रभाव को कौन समझ सकता है! फिर भी क्योंकि मुमुक्षुओं में आप भक्ति द्वारा प्रादात्य के रूप में प्रसिद्ध हैं इसलिये मैं केवल भक्ति से आपकी स्तुति करना चाहता हूँ। मेरे इस अत्यन्त बड़े साहस को आप कृपापूर्वक सह लीजिये।

परमात्मा को सम्बोधन कर कहते हैं देवदेव! देव अर्थात् प्रकाशरूप! इन्द्रियों से सब चीज़ों को जानते हो अत: इन्द्रियों को देव कहा जाता है। इन्द्रियों का राजा मन है, अत: उसे देवराज कहा जाता है। परंतु इन्द्रिय-मन में प्रकाश देनेवाला कौन है? जैसे गीता में कहा है 'यदादित्य गतं तेज:' सूर्य-चन्द्रमा का प्रकाश मेरा तेज है, इसी प्रकार इन्द्रिय-मन के अंदर परमेश्वर के ज्ञान का प्रकाश है, इन्द्रियादि अपना प्रकाश नहीं है। कैसे पता कि वे अपने प्रकाश से प्रकाशित नहीं हैं? जैसे मोमबत्ती की लौ स्वप्रकाश वाली है, उसे सूर्यप्रकाश में देखो तो भी वह कुछ ज़्यादा प्रकाशित नहीं होती! प्रकाशस्वरूप किसी दूसरे से प्रकाशित नहीं हो सकता। इसी प्रकार से जो चीज़ ज्ञानस्वरूप होगी वह दूसरे से जानी नहीं जा सकती। घड़े को इन्द्रियाँ प्रकाशित करती हैं, इन्द्रियों को मन प्रकाशित करता है, इससे पता लगता है कि इन्द्रियाँ स्वप्रकाश नहीं हैं। आगे मन को मैं प्रकाशित करता हूँ। 'आज मैं ध्यान करने बैठा, मेरा मन नहीं लगा', अर्थात् मैंने मन को विक्षिप्त होते जाना अत: मन भी पर-प्रकाश्य है। 'मैं' भी कभी प्रकट होता है, कभी अप्रकट रहता है। जाग्रत्-स्वप्न में मैं प्रकट होता है पर गहरी नींद में मैं प्रकट नहीं है। मैं प्रकट नहीं था - इस बात को किसने जाना? इस बात को जिस मैं ने जाना वह साक्षी है। उसको आगे

प्रकाशित करनेवाला कोई नहीं, वही सबको प्रकाशित करता है, अत: वही देवदेव है।

उस देवदेव का परप्रभाव क्या है? परमात्मा का एक तो यह सारा जगत् प्रभाव है। परमात्मा के प्रभाव का उत्कर्ष सीमारहित है, उसे हम नहीं जान सकते। मनुष्य के ही चरमोत्कर्ष का हमें पता नहीं! आज से सौ साल पहले हम हवाई जहाज़ में उडेंगे यह पता न था। पचास साल पूर्व, चन्द्रमा पर चलेंगे यह पता न था। मनुष्य के प्रभाव के उत्कर्ष को हम देख रहे हैं, आगे प्रभाव किस सीमा तक जायेगा यह नहीं जान सकते हैं। परमात्मा के परप्रभाव को हम कहाँ से जान पायेंगे! विचार करो, एक जल की बूँद शरीर से निकलती है, वह चेतन हो जाता है, बड़ा हो जाता है, साढ़े तीन हाथ का हो जाता है: वह कहता है 'पिताजी आप नहीं जानते'! वह है क्या? मेरे शरीर की एक बूँद है। यह परमात्मा का उत्कृष्ट प्रभाव है। इसका पूरा-पूरा पता नहीं लगता। जैसे बुद्धिमान् आदमी जंगल में प्रवेश करता है तो जगह-जगह निशान लगा देता है ताकि उन निशानों के अनुसार वापस आ सके। वैसे ही परमात्मा सारे संसार में प्रवेश कर उसमें से कैसे निकलता है - यह वेद में बताया है। वेद ज्ञान के द्वारा हम मायाज़ाल को बाधित कर देते हैं। यह उसका 'परप्रभाव' है कि एक 'तत्त्वमसि', छोटे से वाक्य से सारा मायाजाल बाधित हो जाता है!

परमात्मज्ञान जहाँ हुआ वहीं निश्चय होता है कि यह संसार न है, न था और न होगा। हे देवदेव! आपके इस परप्रभाव को कौन समझ सकता है! 'बोद्धुम्' मायने समझ में तो आता है पर बुद्धिवृत्ति का विषय नहीं होता है। सृष्टि-प्रक्रिया भी बुद्धिवृत्ति से समझ में नहीं आती। जिस पर परमात्मा की कृपा है उसके लिये सारा संसार प्रपंच बाधित हो जाता है।

परमशिव के अज्ञान से तरह-तरह की रचनायें हुई हैं। इस सारी सृष्टि को परमात्मा ने अपने प्रभाव से उत्पन्न किया। 'बभूव' - आकाशादि उत्पन्न किये यह बात हमें सर्वथा परोक्ष लगती है, इतनी परोक्ष कि बहुत-से दार्शनिक कहते हैं कि आकाश कभी बना नहीं! वभूव से कह रहे हैं ये इतनी पुरानी बात है जो हुई ज़रूर है, पर लगता है कि हमेशा से यह चला आ रहा है। देश-काल की सृष्टि परोक्ष प्रतीत होती है।

आप भक्तिग्राह्य हैं। परमात्मा से प्रेम होते ही हम उसको पकड़ सकते हैं। भक्ति के दो अर्थ हैं - एक सेवा करना, और दूसरा किसी चीज़ को एक दूसरे से अलग करना। जब हम उसके महत् ऐश्वर्य से अपने आप को अलग करते हैं तब परमात्मा की सृष्टि की जो माया उपाधि है उसको अलग करते हैं। जब तक परमात्मा की माया की सृष्टि है तब तक हम उसे पकड़ नहीं सकते।

सारी सृष्टि परमात्मा के ऊपर Àjृंगार है। इस नाम-रूपात्मक Àjृंगार से परमात्मा को अलग करें तब उसका दर्शन होगा। इसी प्रकार, शरीर से बुद्धि-पर्यन्त उपाधियों से हमने भी खुद को ढाँक रखा है। जब इन सब चोलों को उतारें तब आत्मा का दर्शन होगा।

भक्ति मायने भाग-लक्षणा कर उपाधि से अपने को अलग करना है, तब उसकी सेवा होगी। सेवा मायने सेव्य के साथ एकता का अनुभव करना। जब सब भेद लक्षण नष्ट हो जायें तब प्रेम के अंदर सर्वदा एक होने की इच्छा होती है। भाग-लक्षणा व चेतन की एकता रूपी सेवा से वे भक्तिग्राह्य हैं।

मैं भी आपकी स्तुति करना चाहता हूँ। आपके परप्रभाव को समझना सम्भव नहीं। जिस समय सारी उपाधियों को हटाकर आपसे एक हो जाता हूँ उसका भी वर्णन करना सम्भव नहीं। यद्यपि आपका न मायारूप और न दूसरा कोई रूप वर्णनीय है, फिर भी मैं आपकी स्तुति भक्ति के साथ प्रेमभाव से करना चाहता हूँ, यह मेरा दुस्साहस है। परमात्मा के विषय में मैं कुछ भी कह दूँ यह ग़लत है। वास्तविकता जाने बिना और असमर्थ शब्दों द्वारा कही बात सचमुच में स्तुति न होने पर भी मेरे इस दुस्साहस को क्षमा कर दें - यह प्रार्थना है। परमात्मा सबसे उत्कृष्ट हैं, देवदेव हैं, भक्तिग्राह्य हैं अत:

भक्ति से, प्रेम से उनके प्रति कोई अपराध हो जाये तो वे क्षमा कर देते हैं। चाहे जितना ग़लत व्यवहार करें पर यदि भक्ति से प्रेरित होकर किया हो तो परमात्मा सब अपराधों को क्षमा कर देते हैं।।१।।

जो जगत्कारणता शिव में पूर्व श्लोक से कही उसे उपपन्न करते हैं -

क्षित्यादीनामवयववतां निश्चितं जन्म तावत्
तन्नास्त्येव क्वचन कलितं कर्त्रधिष्ठानहीनम्।
नाधिष्ठातुं प्रभवति जडो नाप्यनीशश्च भाव:
तस्मादाद्यस्त्वमसि जगतां नाथ जाने विधाता ।।२।।

पृथ्वी आदि सावयव हैं अत: निश्चित है कि इनका जन्म हुआ ही है। कर्ता और आश्रय के बिना जन्म कहीं स्वीकार नहीं है। जड एवे पराधीन वस्तु जगदुत्पादन का कर्ता या अधिष्ठान बन नहीं सकता। अत: हे जगन्नाथ! मुझे निश्चय है कि जगत् के विधाता आप ही हैं।

'नाथ' किसे कहते हैं? नाक के अंदर डोरा डाल कर जो सारथि घोड़े आदि को चलाने वाली लगाम को नियन्त्रित कर रखता है, वह नाथ होता है। लड़की जब तक कुमारी है तब तक उसका कोई नाथ नहीं। कौमार्य समाप्त होने पर नथ नाक में डलती है, नथ

डालने वाला नाथ है जो उसका नियन्त्रण करता है। परमात्मा सारे जगत् का नाथ है। कैसे पता लगे? यही समझाते हैं: जो-जो चीज़ अवयवों वाली होती है उसके टुकड़े इकट्ठे किये गये हैं। जो-जो चीज़ उत्पन्न होती है उसका कोई बनाने वाला भी होता है। जैसे संसार में अवयव वाली चीज़ें हैं घड़ा, कपड़ा मकान आदि उनका कोई-न-कोई बनाने वाला होता ही है। अवयव वाली चीज़ के लिये तुरंत प्रश्न होता है किसने बनाया? कोई कहे कि अपने आप बन गई तो कोई मानने को तैयार नहीं। अवयव वाली चीज़ों के अवयवों को इकट्ठा किया गया है, अवयवी को बनाने वाला कोई है - यह हमारे मन में निश्चित है। इससे समझ आता है कि पृथ्वी जल आदि भी अवयव वाले हैं अत: इनको भी किसी ने उत्पन्न किया है। जो निरवयव पदार्थ आकाश परमाणु आदि हैं, उनके बारे में सन्देह होता है कि ये जन्य हैं या नहीं, क्योंकि निरवयव पदार्थ कहीं पैदा होते देखा नहीं जाता। पर सावयव पदार्थ का तो कोई-न-कोई पैदा करने वाला देखा जाता है। क्षिति मायने पृथ्वी; जिसमें सब निवास करें वह क्षिति। आदि अर्थात् जल, तेज आदि भूत और सारा ही भौतिक जगत्। ये जितनी भी अवयव अर्थात् टुकड़ों वाली चीज़ें हैं वे सब अवश्य ही पैदा हुई हैं। संसार टुकडों वाला ही देखने में आता है अत: संसार का जन्म हुआ है, इसमें सन्देह नहीं।

'क्वचन' कहीं पर भी, लोक या शास्त्र में प्रसिद्ध है कि किसी बनाने वाले के बिना कर्ता से अधिष्ठित हुये बिना किसी अवयवी का जन्म नहीं होता है। मकान बना तो इसको बनाने वाला राज-मिस्त्री ज़रूर है। इसी प्रकार पृथ्वी इत्यादि को बनाने वाला कोई है, कर्ता और अधिष्ठान है; कोई-न-कोई उपादानभूत चीज़ होगी और कोई-न-कोई बनाने वाला होगा तब कार्य बनेगा। मिट्टी पहले से है, उस मिट्टी में केवल घटरूप धर्म का जन्म हो जाता है। कोई कहे कि अविद्या, प्रकृति को ही कर्ता मान लो, तो बनता नहीं क्योंकि जड की स्वत: प्रवृत्ति होती नहीं। अविद्या, या प्रकृति बिना चेतन के, कार्य कर नहीं सकती। नयी-नयी चीज़ें उत्पन्न करने के लिये व्यवस्थित व सप्रयोजन प्रवृत्ति चेतन ही कर सकता है। यदि कहा जाये कि ऐसा चेतन जीव हो सकता है; जीव कर्ता है, चेतन है, पृथ्वी आदि को बनाने वाला कोई जीव ही होगा? तो यह भी बनता नहीं क्योंकि जीव अपने कर्मफलभोग के लिये पहले से उत्पन्न पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि कर सकता है। अपने कर्मफल-भोगने को जीव सदा परतंत्र है। जिस प्रकार कुम्हार घड़े को उत्पन्न या नष्ट करने में स्वतंत्र देखा जा सकता है उस तरह वह मिट्टी बनाने में नहीं। इसी तरह जीव परतंत्र होने से पृथ्वी आदि की सृष्टि करने में समर्थ नहीं। प्रकृति जड है अत: वह कारण नहीं, कारण तो चेतन ही है। जीव चेतन है पर कर्मफलभोग में परतंत्र है। अत:

वह पहले से मौजूद चीज़ों में कुछ हेरुेर ही कर सकता है, इस पृथ्वी आदि को बनाने वाला नहीं हो सकता। अत: 'आद्य' सृष्टि से पूर्व में भी मौजूद आप ही पृथ्वी आदि सब को बनाने वाले हैं, यह मुझे निश्चय है। अत: आप ही संसार के नाथ हैं; चूँकि आपने सबको प्रवृत्त किया इसलिये आप सबके नाथ हैं।।**२**।।

उस जगत्कारण परमात्मा के विषय में लोग तरह-तरह की बातें करते हैं पर वेदों का निर्णय स्पष्ट है कि शम्भु ही जगत् के जन्मादि हेतु हैं, यह स्पष्ट करते हैं -

इन्द्रं मित्रं वरुणमनिलं पद्मजं विष्णुमीशं
प्राहुस्ते ते परमशिव ते मायया मोहितास्त्वाम्।
एतै: सार्धसकलमपि यच्छक्तिलेशे समाप्तं
स त्वं देव: श्रुतिषु विदित: शंभुरित्यादिदेव: ।।३।।

आपकी माया से मोहित बहुतेरे लोग आप ईश्वर को इन्द्र, मित्र, शक्ति के एक छोटे अंश में ही समाप्त हो जाता है, वह देव आप हैं जिन्हें श्रुतियों में शम्भु, आदिदेव भी बताया है।

भगवान् परमशिव परम मंगलकारी हैं, सारी सृष्टि को उन्होंने ऐसा बनाया है जो अत्यन्त मंगलकारी है। आम का बीज बोते हो, बीस साल तक उससे पाँच सौ

आम खाते हो। तुम जितना पानी साल भर रहट चला कर एक खेत में नहीं डाल सकते उतना वह दो घण्टे की वर्षा में बरसा देता है। दस मिनट में जितनी शक्ति सूर्य से हमें आती है उतनी सारी बिज़ली-गैस-डीज़ल से हमें नहीं आती। परमात्मा कितना देता है इसका कोई ठिकाना नहीं। एक आदमी किरमिच का जूता, तूश का शाल पहन कर जा रहा था। रास्ते में कीचड़ आ गया। दो हज़ार का शाल नीचे डाल दिया और पच्चीस रुपये का जूता पहन कर उसके ऊपर से चला गया! किसी ने पूछा 'पच्चीस रुपये के जूते के लिये दो हज़ार का शाल क्यों ख़राब कर दिया'? तो वह बोला 'जूते मेरी कमाई के हैं। शाल पिताजी की कमाई का है'। ठीक यही हाल हमारा है। जो शक्ति हमें अपने यंत्र-संचालनादि सब कामों के लिये मिलती है उसके लिये हम गायें मार कर निर्यात करते हैं, उससे प्राप्त धन से पैट्रोल खरीदते हैं; पर सूर्य हमें जो बारह घण्टे का प्रकाश, तेज देता है, उसके लिये अर्घ्य देने को कहो तो लोगों को कष्ट मालूम पड़ता है! परमात्मा ने जो सृष्टि बनाई वह अत्यंत मंगलकारी है। अत: वह परमशिव है। हम उसे अशिव बनाते रहते हैं। बढ़िया गुलाबज़ामुन, बर्फी खाते हैं, खाकर अत्यंत बदबूदार मल पैदा करते हैं! परमात्मा की उत्तम सृष्टि को राग-द्वेष से अत्यंत घृणित करते हैं। ऐसे परमशिव की माया से मोहित हुये उन्हें इन्द्र से एक कर समझते हैं कि जैसे लोक के अदंर

व्यवस्था चलाने वाला कोई राजा होता है इसी प्रकार संसार को चलाने वाला भी कोई राजा होगा! अत:, देवताओं का राजा इन्द्र ही परमात्मा होगा - यह सोचते हैं। दूसरे लोग समझते हैं कि वर्षा करना, धूप देना, आदि के द्वारा सारे प्राणियों के प्रति सूर्य स्नेह प्रकट करता है अत: वह ही परमात्मा होगा। उस इन्द्र का शासन करने वाला उस सूर्य पर शासन करने वाला जो चेतन है वह परमात्मा है - इसे नहीं समझ पाते हैं। इसी प्रकार वरुण अर्थात् वरों को देने वाला, हमारी कामना-पूर्ति करने वाला परमात्मा वरुण है, ऐसा मान लेते हैं। इस प्रकार परमात्मा को कोई राजा के रूप में या मित्र के रूप में या कामना-पूर्ति करने वाले के रूप में देखते हैं। कामना-पूर्ति नहीं हुई तो हम कहते हैं कि 'परमात्मा कैसे हैं जो इतनी-सी इच्छा पूरी नहीं करते'। क्योंकि निरन्तर यही सोचते हैं कि जो हमारी इच्छा पूरी करे वही परमात्मा है। कोई अनल (प्राण) को ही, कोई पद्मज (ब्रह्मा) को ही, कोइ विष्णु को ही परमात्मा मानते हैं। आपके वास्तविक स्वरूप चेतन को न जानकर, कहीं ऐश्वर्य की उपाधि, कहीं प्राण शक्ति की उपाधि, कहीं रक्षण-शक्ति की, कहीं ज्ञान-शक्ति की तो कहीं कामना पूर्ण करने की शक्ति की उपाधि को ही ईश्वर समझते हैं। प्राय: मनुष्य उपाधि में ही फॅसता है। जैसे राजा को मंत्री आदि समझना नासमझी है वैसे परमेश्वर को इन्द्रादि समझना नासमझी ही है क्योंकि इन्द्रादि तो परमेश्वर द्वारा

नियुक्त देवता हैं, परमेश्वर का निरंकुश शासन इन सब पर भी चलता ही है।

आपका स्वरूप तो चेतनमात्र है। मित्र, वरुण, पद्मज, विष्णु आदि रूपों में जो चेतन है वह परमात्मरूप है। परंतु आपकी माया से मोहित होने के कारण सब जीवों की दृष्टि, माया से जो रहा है उस तरफ ही जाती है, परम कारण की तरफ नहीं जाती है। हम जब कहते हैं 'सरकार भ्रष्ट है' तब तात्पर्य ये होता है कि अमुक-अमुक सरकारी कर्मचारी भ्रष्ट हैं। 'सरकार' कर्मचारी तो नहीं पर हम कर्मचारी को ही सरकार समझते हैं। ठीक इस प्रकार परमात्मा इन्द्र, मित्र वरुण आदि में उपाधि रूप से दीखता है, हम उस उपाधि को ही परमात्मा समझ लेते हैं। यही आपकी माया है। हम यह नहीं समझते कि सब उपाधियों में रहने वाला चेतन ही कारण है। परमात्मा की अनन्त शक्ति का जो एक लेश है, उसमें इन्द्र, मित्र वरुण इत्यादि सार-के-सारे और सम्पूर्ण जगत्-प्रवाह समाप्त हो जाता है। ऐसे एकमात्र परमात्मा ही देव हैं। देव का पता कहाँ लगता है? उपनिषदों में ही मिलता है, अन्यथा कहीं नहीं। 'शम्भु:' आपका स्वरूप क्या है? 'शं' कल्याणमय है। अत: परमात्मा के दर्शन करने मात्र से सारी माया निवृत्त हो जाती है। आप आदिदेव हैं। जगत् उत्पन्न होने से पूर्व एकमात्र आप ही विद्यमान थे अत: आप ही आादिदेव हैं।

इस प्रकार से परमात्मा ही प्रधानरूप से दर्शनीय हैं यह बतलाया।।३।।

अब बताते हैं कि उसका ज्ञान, दर्शन कैसे होता है -

आनन्दाब्धे: कमपि च घनीभावमास्थाय रूपं
शक्त्या सार्धं परममुमया शाश्वतं भोगमिच्छन्।
अध्वातीते शुचिदिवसकृत्कोटिदप्रे कपर्दिन्
आद्ये स्थाने विहरसि सदा सेव्यमानो गणेशै: ।।४।।

हे कपर्दी! आप आनन्द-सागर के अनिर्वाच्य घनीभूत रूप को ग्रहणकर उमा-रूप शक्ति के साथ उत्कृष्ट भोग चाहते हुए आदि में होने वाले उस स्थान में गणाधिपों द्वारा सदा सेवा पाते हुए विहार करते हैं जो ग्रीष्मकाल के सूर्य जैसे करोड़ों सूर्यों की तरह दीप्ति वाला है।

'हे कपर्दिन्'! सहस्रार के अंदर जो विद्यमान रहता है, सिर को जोड़ कर रहता है, वह कपर्द हुआ। 'क' जल को भी कहते हैं; जहाँ गंगा रहती है वह जटा भी कपर्द है। सारे जगत् को गंगाजल से ही भर देते हैं, शुद्ध कर देते हैं अत: शिव कपर्दी हैं। सारे समुद्र को गंगा ने आकर भरा यह पुराणों में प्रसिद्ध है। सबके पापों को शुद्ध करने वाली गंगा ही है। वह जिनकी जटा में

धारण हुई है वे कपर्दिन् हैं। और आप कैसे हैं? आनंद के समुद्र हैं। समुद्र के अंदर मछली इत्यादि तरह-तरह के प्राणी और लहर आादि होती है। मान लो समुद्र में जल ही जल हो, और कोई प्राणी न हो, तो जब जल जम जाये, लहर भी न उठे, ऐसा जो शांत ठोस समुद्र होगा वि समुद्र का घनीभाव होगा। चाहे जितनी वर्षा बरस जाये समुद्र का स्तर ऊँचा नहीं होता, सूखा पड़ जाये तो भी उसका स्तर नीचा नहीं होता। जो चीज़ पूर्ण होती है उसका न घटना होता है और न बढ़ना अत: समुद्र को लोक में पूर्ण जल मानते हैं। पर समुद्र में लहरों का उठना व मछली आदि प्राणियों का रहना बतलाता है कि उसमें जल के अतिरिक्त भी कुछ है। घनीभाव से जल की पूर्णता की। इसी तरह जहाँ आनंद के सिवाय कुछ नहीं वह आनंदसमुद्र का घनीभाव है। श्रुति ने कहा है 'यो वै भूमा तत्सुखम' जो सर्वव्यापी होता है वही सुख है, यदि जरा भी परिच्छिन्नता है तो सुख नहीं। आनंद का घनीभाव ही परमात्मा का स्वरूप है। 'कमपि' - उस रूप के बारे में परिच्छेद कर यह नहीं कह सकते कि वह *ऐसा ही* है। परमात्मा का जो शुद्ध आनंदघन स्वरूप है उसका कोई परिच्छेदक नहीं है अत: अवच्छिन्न कर इसे जान नहीं सकते हैं।

कोई जन्म से अंधा ब्राह्मण था। कहीं गाँव के सब ब्राह्मणों का निमंत्रण था, अन्धे ब्राह्मण को भी निमंत्रण

मिला। वह उस जगह देर से पहुँचा, तब तक लोग वापस आ रहे थे, लोगों ने पूछा 'कहाँ जा रहा है'? उसने कहा 'भोज़न करन', वे कहने लगे 'पंगत समाप्त हो गई, जाकर क्या करेगा'! उसने पूछा 'क्या खाया'? वे बोले 'खीर'। 'खीर क्या होती है'? अंधा होने से देखी तो थी नहीं कि कैसी होती है। ब्राह्मणों ने कहा सफ़ेद। 'सफेद कैसा होता है'? वे बोले 'बगुले जैसा'। बगुला कैसा होता है? एक ब्राह्मण ने अपना हाथ बगुले की गर्दन के आकार का बनाया और अंधे ने उसे छूकर अनुभव किया तो बेचारा बोला, 'ठीक ही हुआ खाता तो गले में अटक जाती'! यों केवल लक्षणों से चीज़ नहीं जानी जा सकती, उसका वास्तविक ज्ञान नहीं हो पाता। लक्षण का प्रमाण से परीक्षण होता है पर उससे वस्तु का वास्तविक ज्ञान नहीं होता, वह तो अनुभव करने वाले को ही हो सकता है। जैसे खीर के वर्णन से खीर का कुछ ज्ञान हो सकता है पर वास्तविक ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार आनन्दघन का साक्षात्कार हुए बिना केवल शब्दों के सहारे उसे सही-सही समझा नहीं जा सकता अत: 'कमपि' कहा।

'उमया शक्त्या साधर्म्' - उसका ज्ञान, उमाशक्ति साथ हो तब होगा। उमाशक्ति क्या है?

प्रणव ही उमा है। ओंकार के अर्थज्ञान के द्वारा ही शिवदर्शन होता है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति और उनके व्यष्टि-समष्टि अभिमानियों की जिस अखण्ड ज्ञान के अंदर इनकी कल्पना हो रही है वह ही परमात्मा है। जो शिवविषयक अज्ञान मिटाने का हेतु बनती है वही उसकी विद्याशक्ति है। जब तक चीज़ों को सचमुच अलग-अलग देखेंगे तब तक आवरण शक्ति को देखेंगे, पर जब नाम-रूप को हटा देंगे, तब भेददृष्टि हटकर बन्धन खुल जायेगा। जितना-जितना भेद कम होगा उतना अभेद बढ़ता जायेगा। अभेद में ही आनन्दघनता है। विषय भोग दु:ख-शिरस्क हुआ करता है। विषय भोग के अन्त में दु:ख होता है, इसीलिये भगवान् ने कहा -

'ये हि संस्पर्शजा भोगा दु:खयोनय एव ते' (गी.५.२२)

विषय-संस्पर्श से जो भोग होता है वह दु:ख का कारण बनता है। क्यों? क्योंकि वहाँ भोग जड पदार्थ को लेकर है और जड पदार्थ के अंदर दु:खरूपता है अत: जड की सहायता वाला सुख अवश्य ही दु:ख-शिरस्क होगा। चूँकि चेतन का स्वरूप सुख है अत: चेतन के भोग में

दु:खशिरस्कता नहीं अत: उसे 'परमभोग' कहा। परम भोग विषयभोग की तरह दु:खदायी नहीं। विषय अपर हैं अत: उनके भोग को भी अपर कहा जाता है, अन्यथा भोग तो भोग ही है ! जैसे घट के और ब्रह्म के आकार की वृत्तियाँ - दोनों वृत्ति रूप से एक ही हैं पर घटाकार वृत्ति से होने वाले ज्ञान को 'अपर ज्ञान' और ब्रह्माकार वृत्ति से होने वाले ज्ञान को 'पर ज्ञान' कहते हैं। जो आँख सूअर को देखती है वही आँख शालिग्राम को भी देखती है, जो नाक तुलसी- मंजरी की गंध ग्रहण करती है वही नाक बदबू को भी ग्रहण करती है, घ्राणेन्द्रिय एक है। इसी प्रकार घट विषयक वृत्ति व ब्रह्माकार वृत्ति में वृत्तिरूप से एकता है पर विषय की वजह से एक अपर ज्ञान है और दूसरा पर ज्ञान है। इसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति से परम भोग है क्योंकि उसका विषय परमात्मा है। ब्रह्मस्वरूप की विशेषता है कि यह सुख कभी समाप्त नहीं होता है। परमात्मा को छोड़ अन्य सब सुख किसी-न-किसी इच्छा से होते हैं, इच्छा की निवृत्ति होने पर वे सुख भी समाप्त हो जाते हैं। भूख लगी साठ रसगुल्ले खाये, भूख समाप्त हो गयी। अब रसगुल्ले की इच्छा नहीं रही तो उसका सुख भी नहीं रहा। हर इच्छा जब पूर्ण होती है तब हर चीज़ मनुष्य को अंत में दु:ख ही देती है; पेट ठस भर चुकने पर रसगुल्ला देखकर भी उबकाई आती है! अपना आपा जो है उससे कभी उबकाई नहीं आती। अनादि काल से सब कार्य इसलिये

करते हैं कि फल मुझे मिले, इस 'मैं' से हमें कभी उबना होता है क्या? कभी नहीं। इसलिये, यदि परमात्मा 'मैं' से भिन्न होगा तो कभी- न-कभी वह परमात्मा मुझे उबा देगा। यदि परमात्मा 'मैं'से अभिन्न है तो उससे ऊबूँगा नहीं, क्योंकि अपने से प्रेम स्वरूप से है, किसी इच्छा से नहीं। चूँकि परमात्मा आत्म-स्वरूप है इसलिये न वह इच्छा का विषय है न उबानेवाला है। वह स्वरूप से आनंद है अत: परमात्मा का आनन्द शाश्वत है।

ऐसे आनंद की इच्छा करते हुये कहाँ रहते हैं? - 'अध्वातीते शुचिदिवसकृत्कोटिदीप्रे कपर्दिन्' ! 'अध्वातीते' - अध्वों से अतीत स्थान पर। अध्वा एक पारिभाषिक शब्द है। अध्वा का रूढ अर्थ है रास्ता। छह अध्वा शास्त्रों में माने गये हैं - वर्णाध्वा, पदाध्वा, मंत्राध्वा, भुवनाध्वा, तत्वाध्वा, कलाध्वा। इन अध्वों के अंदर सारे तत्त्व आ जाते हैं। इन सारे तत्त्वों का भोग परमात्मज्ञान के द्वारा हो जाता है। जिस प्रकार से राजा फ़ौज़ को जीतने का अभ्यास करवाने के लिये दो भागों में बाँट कर एक भाग में स्वयं सेनापति बन कर सेना के अंगरूप में प्रवेश करता है और युद्ध करता है, कभी उसमें जीतता है तो कभी हारता भी है! पर न वह सच्ची जीत है और न सच्ची हार। यह सब करते हुये राजा वैसा का वैसा बना रहता है। इसी प्रकार परमात्मा ही जीव व ईश्वर इन दोनों भावों को संपन्न करके जीवभाव-ईश्वरभाव को बाधित

कर उस परमभोग की प्राप्ति का खेल करता है। ऐसा करते हुये भी उसके परब्रह्मरूप में फ़र्क नहीं पड़ता है। सारे अध्वाओं को बनाते हुये भी वह अध्वातीत बना रहता है।

अध्वाधीत को आगमों में सरल बनाया है: पहला पृथ्वी तत्त्व सौ करोड़ योजन का, फिर उससे दस गुणा जलतत्त्व, उससे दस गुणा अग्नितत्त्व, उससे दस गुणा वायुतत्त्व, उससे दस गुणा आकाश तत्त्व (इन पाँच महाभूतों को एक गिना जाता है), फिर उससे दस गुणा **२**)अहंकार तत्त्व, फिर **३**) प्रकृतितत्त्व उसके आगे **४**) नियति तत्त्व, **५**) विद्यातत्त्व, **६**)कलातत्त्व, **७**)कालतत्त्व, **८**)माया तत्त्व, **९**) शुद्धविद्यातत्त्व, **१०**) महेश्वरतत्त्व, **११**) सदाशिवतत्त्व और **१२**) शक्ति तत्त्व सब एक दूसरे से दस गुणा अधिक हैं। इस प्रकार ये द्वादश कहे जाते हैं। इसीलिये शास्त्रों में अध्वातीत को द्वादशान्त भी कहा है। वेदान्त की दृष्टि से 'द्वादशान्त' इसलिये कहते हैं कि दस इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि, इन द्वादश (बारह) से परे ही अध्वातीत है। वेद के अंदर भी प्रार्थना है कि अध्वपति भगवान् शंकर हमें अध्वा (मार्ग) से परे पहुँचायें 'अध्वनामध्वपते श्रेष्ठस्याध्न: पारमशीय'। दस इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि का जहाँ तक विषयता है उस को पार कर जायें तभी परमात्म प्राप्ति होती है। मनोनियन्त्रण सहित जो विज्ञानवान् हो वही संसारमार्ग से परे जा पाता है, यह

कठोपनिषत् में भी बताया है **'सो ध्वन: पारमाप्नोति'(१.३.९)।**

'शुचिदिवसकृत्' - दिवसकृत् मायने दिन को बनाने वाला सूर्य; शुचि अर्थात् अत्यंत तेजस्वी। अत्यन्त चमक के लिये ऐसा वर्णन अन्यत्र भी है जैसे गीता में अर्जुन कहता है 'दिवि सूर्यसहस्रस्य'**(११.१२)** हजारों सूर्यों का जैसा प्रकाश हो सके, वैसा प्रकाश विराट् के दर्शन का था। जिस समय उस परमात्मा का अनुभव होता है, सभी चीज़ें उस समय सकृद् विभात हो जाती हैं अत: अतिविपुल स्पष्ट भान समझाने के लिये ऐसे उपमान का प्रयोग करते हैं। जिस समय परमात्मा का ज्ञान होता है उस समय मानों अनन्त प्रकाश हो जाता है। ऐसा 'दीप्र' , दीप्तिमान् स्थान है 'आद्यस्थान'। सहस्रार के अंदर जो आद्यस्थान है, जहाँ जीव ने प्रवेश किया, वहीं आप गणेशों से सेवित होते हुए विहार करते हैं। शरीर के अंदर गण हैं; गण मायने समूह। पंच महाभूतों के पाँच गण, पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ - सब गण हैं, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार गण हैं, इन सारे गणों द्वारा सेव्यमान रहते हैं। अब तक तो ये सब शासन करते रहे, इनकी सेवा हम करते हैं। जीभ् खाना चाहती है, हम परिश्रम करते हैं कि जीभ को खाना मिले! कान सुनना चाहते हैं तो हम परिश्रम करते

हैं कि कान को शब्द मिले। पर अध्वातीतता पा जाने पर देवता स्वत: भेंट लेकर आते हैं अर्थात् इन्द्रियों की अधीन नहीं रहती वरन् इन्द्रियाँ ही सेवा करती हैं।

सिर को आद्यस्थान इसलिये कहा कि यहीं से परमात्मा ने जीवभाव से प्रवेश किया। बच्चा पैदा होता है तो प्राय: सिर ही सबसे पहले निकलता है अत: यह आद्य स्थान हुआ। गरुड पुराण के अनुसार सिर से ही सारा शरीर बनना शुरु होता है। जिस प्रकार वृक्ष की जड़ें ज़मीन में हो तभी वृक्ष बढ़ता है इसी प्रकार जब तक सिर की रचना नहीं होती तब तक आगे के अंगों की रचना भी नहीं होती, इसलिये सिर को आद्यस्थान कहते हैं। ज्ञान होने पर मनुष्य छ: चक्रों से होते हुए वहाँ जाकर स्थित होता है। इस प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति मे स्थित रहने पर ही शाश्वत भोग है।।**४**।।

परमात्मा शिवलोकादि उत्तम देश में है, जीव भूलोक में रहने वाला है, हमारा उनका सेव्य-सेवक भाव कैसे होवे? मीरा भी कहती है 'गगन ऊपर सेज पिया की किस विध मिलना होय'? अत: स्पष्ट करते हैं कि परमेश्वर की सेवा कैसी की जाये -

त्वं वेदान्तैर्विविधमहिमा गीयसे विश्वनेत:
त्वं विप्राद्यैर्वरद निखिलैरिज्यसे कर्मभि: स्वै: ।
त्वं दृष्टानुश्रविकविषयानन्दमात्रावितृष्णै:

अन्तर्ग्रन्थिप्रविलयकृते चिन्त्यसे योगिवृन्दैः ।।५।।

हे विश्वनेता! विविध महिमा वाले आप ही उपनिषदों द्वारा वर्णित किये गये हैं। हे वरप्रदाता! विप्र आदि द्वारा अपने सब कर्मों से आप पूजे जाते हैं। लोक में व शास्त्र में प्रसिद्ध विषयसुखों के लेश से भी जिन्हें वितृष्णा है ऐसे योगिसमूहों द्वारा भीतरी गाँठ के समापन के उद्देश्य से आप ही विचार जाते हैं।

परमात्मा को पहला सम्बोधन करते हैं 'विश्वनेतः'। वे सारे विश्व को ज्ञानरूपी चक्षु से ले चलने वाले हैं। 'सर्वजनं नयति इति विश्वनेता' वही सबको ज्ञान से चलाता है। पहला वेद ऋग्वेद, और उसका पहला शब्द है 'अग्नि'। अग्नि मायने 'अग्रे नीयते'; वहाँ भी चलानेवाले परमात्मा को अग्नि नाम से कहा है। आग को भी अग्नि कहते हैं। पुराने ज़माने में जब अंधेरे में चलते थे तब हाथ में आगे मशाल रखते थे; इस तरह, आगे ले जाता है इसलिये उसे अग्नि कहते हैं। गीता में भी 'ज्ञानाग्निः' से ज्ञान को अग्निरूप बताया है। ज्ञान ही सबको चलाता है। आगे अर्थात् पहले ज्ञान है तब ही कुछ कर सकते हैं। इसीलिये भगवान् को कहा 'विश्वनेतः'। परमात्मा ही पृथ्वी में रह कर पृथ्वी को, जल में रहकर जल को, इन्द्रियों में रहकर इन्द्रियों को

चलाता है। अर्न्तयामीरूप से रहते हुये वह सबको चलाता है। हे विश्वनेतः! 'वेदान्तैः'। उपनिषदों के द्वारा आपकी तरह-तरह की महिमा बताई गई है। उपनिषद् कहती है कि जिस काल में साधक अपने से अतिरिक्त जो कुछ भी है वह दृश्य जड-स्वरूप होने से नश्वर, सदा तुच्छ है - इस प्रकार देखता है तब वह निष्पाप हो जाता है। यद्यपि आत्मा ज्ञानरूप है तथापि आत्मसंबद्ध अज्ञान मिटाने के लिये अन्तःकरण की वृति की ज़रूरत पड़ जाती है। लौकिक ज्ञानों में भी अन्तःकरण वृत्ति चाहिये ही अतः आत्मा-अनात्मा दोनों के ज्ञान में वह सहायक है। पर अनात्मज्ञान में वृत्ति के अलावा आत्मप्रकाश भी चाहिये रहता है जबकि आत्मज्ञान में केवल वृत्ति चाहिये, प्रकाशरूप तो आत्मा स्वयं है।

परमात्मा कैसा है? रुक्मवर्ण - सोने के रंग का। सोना सदा शुद्ध रहता है। इसी प्रकार परमात्मा सदा असंग बना रहता है। स्वप्रकाश होने से भी वह रुक्मवर्ण है। और कैसा है? 'कर्तारम्' अज्ञान के द्वारा जो कुछ भी देखने में आता है वह सब परमात्मा ही है। ब्रह्म ही अज्ञान के द्वारा जगत्-रूप से दीखता है, अपने अज्ञान से ब्रह्म में कर्तापना दृष्टिगोचर होता है। 'ईशम्' - प्राणियों के अदृष्ट फल के अनुसार ही वह उन पर ईषन, शासन करता है। श्रुति कहती है कि वह जीव को ऊपर ले जाना चाहता है तो उससे उत्तम कर्म

करवा लेता है, नहीं तो असाधु कर्म करवा लेता है। यही उसका ईशन है। जिस समय हमें बुरे कर्मों का फल भोगना है तब असाधु कर्मों मे प्रवृत्त कराकर वह दु:ख का भोग करा देता है। इसीलिये उसे ईश कहते है। परंतु वस्तुत: न वह कर्ता है, न ईश है, वह तो पुरुष अर्थात् पूर्ण रहते हुये भी इस अज्ञान की उपाधि से - ब्रह्मरूप योनि से - सारे जगत् का कारण है। जो उसका साक्षात्कार कर लेता है कि 'मेरा स्वरूप असंग है, ये कर्तार, ईश आदि सारे सम्बन्ध कल्पित हैं' वह विद्वान् है। साधक इस बात को जानकर विद्वान् हो जाता है और तब उसके पुण्य-पाप सब निरस्त हो जाते हैं। निरतिशय परमात्मा से अभेद, 'परम साम्य' को प्राप्त कर लेता है। साम्य मायने जो-जो सत्-चित-आनन्दरूपता परमात्मा में है वह अपने में आ जाती है। उसका स्वरूप शान्त है, उपाधि से उसकी महिमा का पता लगता है। अगला सम्बोधन है 'वरद'! वर मायने जिस चीज़ को कोई लेना चाहे। जो जिसको अपने सुख का कारण समझता है उसको भगवान् वह चीज़ देते हैं अत: उन्हें वरद कहा। 'विश्वनेत:' से अन्तर्यामी स्वरूप बताया, 'वरद' से बाह्यरूप बताया है।

विश्वनेतृत्व को समझने में उपनिषद् कारण बनती है वैसे ही इष्ट पदार्थों की प्राप्ति के लिये कर्म

कारण बनते हैं। अप्राप्य की प्राप्ति कर्म से होगी। चाहे वह कर्म जप हो, उपासना हो, कुछ भी हो। कर्म दो प्रकार से किये जा सकते हैं: एक तो मीमांसा की दृष्टि से कि कर्म स्वत: फलदाता है, यह मानकर; और दूसरा, 'कर्मफल देनेवाला ईश्वर है अत: परमात्मा की प्रसन्नता के लिय कर्म कर रहा हूँ'। इस द्वितीय दृष्टि से यहाँ 'इज्यसे' कहा कि कर्म ही आपकी अर्चना हो जाती है। कैसे कर्म से? स्वकर्म से। वर्ण-आश्रम के अनुसार जिसके लिये जो कर्म विहित है वही परमात्मा की अर्चना में प्रयुक्त होगा। शास्त्र में जिसके लिये जिन कर्मों का विधान किया है उन कर्मों से परमात्मा की पूजा हो जाती है। फलों की कामना त्याग कर वेद-स्वाध्याय, यज्ञ, दान, तप आदि सारे परमात्मा की प्राप्ति के लिये विनियुक्त बताये हैं। इसलिये सभी कर्मों का प्रयोग परमात्मा की पूजा-अर्चना के लिये हो सकता है। इसके अलावा, सभी के यि अभिमत तीर्थयात्रा आदि कर्म भी परमात्मा की प्रसन्नता के लिये किये जा सकते हैं। किनके द्वारा? 'विप्राद्यै:' - 'विशेषत: आत्मानं परं च पान्ति इति विप्र:'। विप्र मायने जो अपनी रक्षा करे व दूसरों की भी रक्षा करे। किससे रक्षा करे? पाप से। स्वयं कोई पाप न करे, दूसरा भी पाप में प्रवृत्ति न करे इसके लिये उसे समझाये कि पाप नहीं करना चाहिये। यजन, याजन, अध्ययन,अध्यापन, दान, प्रतिग्रह - इन छह कर्मों को जो

करे उसे भी विप्र कहा जाता है। वह अध्ययन से अपनी तथा अध्यापन से दूसरों की रक्षा करेगा। इसी प्रकार छहों कर्मों के द्वारा अपनी या दूसरों की रक्षा करता है। 'विप्राद्यै:' अर्थात् विप्र है आदि में जिनके वे वर्णी लोग।

ज्ञानमार्गी साधक परमेश्वर के अन्तर्यामी रूपकी पूजा करते हैं, दूसरे साधक उनके बहिर्यामी रूपकी पूजा करते हैं। तीसरे हैं योगी वे भी परमात्मा का चिंतन करते हैं। एक योगी हैं जो अणिमा, लघिमा की सिद्धि के लिये योग का अभ्यास करते हैं, उनका इष्ट परमात्मा नहीं है। परमात्मा जिन्हें इष्ट है उन योगियों की क्या विशेषता है? 'दृष्टानुश्रविकाविषयानन्दमात्रा वितृष्णै:'। दृष्ट विषय अर्थात् इस लोक में उपलभ्य भोग। आनुश्रविक विषय अर्थात् जिन भोगों के बारे में शास्त्रों में सुना जाता है व लोकान्तर में ही जो मिलते हैं। दोनों तरह के विषयों से मिलने वाले आनंद का अंश भी जिन्हें आकृष्ट नहीं करता वे ही परमात्मा के दर्शन के निमित्त योग की साधना करते हैं। जिस समय हम जाग्रत् रहते हैं, किसी-न-किसी इन्द्रिय द्वारा विषयों का भोग होता रहता है। जिसका भोग सुखद हो गया, वैसे ही दूसरे पदार्थ की इच्छा होती है। मन का स्वरूप ही ऐसा है कि जिसका भोग करता है, फिर-फिर उसकी इच्छा करता है। इसी प्रकार, पारलौकिक पदार्थों में जिनमें हमने शोभन-बुद्धि करली कि यह वस्तु अच्छी है,

उसकी हमें कामना हो जाती है। आनुश्रविक पदार्थों के भोग की तो कोई स्मृति नहीं है पर जिनकी कल्पना करली कि ये शुभ हैं, ऐसे पदार्थों के प्रति शास्त्र निश्चय करा देता है कि वे भोगने लायक हैं। जब तक शरीर का अध्यास रहेगा तब तक शरीर-इन्द्रियों को अच्छी लगने वाली चीज़ों के प्रति सब लोगों की इच्छा होगी ही। उन पदार्थों में, विषयों में, सुख है नहीं, पर यह नहीं जानने से उन्हें भोगने में प्रवृत्ति होती है। तृष्णा -- किसी भी पदार्थ की प्राप्ति की तीव्र इच्छा। वितृष्णा -- 'किसी भी प्रकार के विषयानन्द का भोग मुझे मिले' ऐसी इच्छा न होना। इस प्रकार की वितृष्णा वाले जो योगी हैं वे ही भगवान् के उद्देश्य से योगसाधना करते हैं। अन्तर्ग्रन्थि - मूलाधार, मणिपूर और आज्ञा - इन तीन चक्रों में तीन ग्रन्थियाँ हैं जिन्हें ब्रह्म-ग्रन्थि, विष्णु-ग्रन्थि और रुद्र-ग्रन्थि कहते हैं। पेड़ के चारों तरफ जैसे बेल लिपटी रहती है वैसे ही नाडियों का समूह हमारे अंदर लिपटा रहता है। इन नाडियों में ही हमारे संस्कार भरे रहते हैं। इसीलिये नाडियों की शुद्धि पर जोर दिया जाता है। ये नाडियाँ अनेक जन्मों की वासनाओं से भरी पड़ी हैं। नाडियों की ये तीन ग्रन्थियाँ टूट जायें इसके लिये योग का अभ्यास कर्तव्य है। एक ग्रन्थि हमारे में मोह, भ्रम, उत्पन्न करती है कि हम परिछिन्न हैं; दूसरी यह कि विषयों के अधीन हैं और तीसरी ग्रन्थि यह कि परमात्मा ढका है अर्थात् उसके हमारे बीच में आवरण है। जब तक परिछिन्नता,

कर्त्तृत्व और आवरण की इन तीन ग्रन्थियों से निवृत्त नहीं होते तब तक वासना-जाल से निकलना सम्भव नहीं। विषय-सुख से वितृष्णा वाले योगिजन ही ग्रन्थिभेदन के लिये भगवान् का चिन्तन (ध्यान) करते हैं। इस प्रकार तीन प्रकार के अधिकारियों को बतलाया।।५।।

इन अधिकारियों को किस प्रकार के फल की प्राप्ति होती है यह बताते हैं -

ध्यायन्तस्त्वां कतिचन भवं दुस्तरं निस्तरन्ति
त्वत्पादाब्जं विधिवदितरे नित्यमाराधयन्त:।
अन्ये वर्णाश्रमविधिरता: पालयन्तस्त्वदाज्ञां,
सर्वं हित्वा भवजलनिधावेष मज्जामि घोरे।।६।।

आपका ध्यान करते हुए कुछ भाग्यशाली साधक मुश्किल से पार किये जा सकने वाले भवसागर को निश्चिंतता से लाँघ जाते हैं। अन्य भक्त यथाविधि आपके चरणकमल का हमेशा पूजन करते हुए भवसागर पार कर जाते हैं। अन्य अधिकार आपकी आज्ञा का पालन करते हुउ अपने वर्ण-आश्रम के लिये विहित कर्मों में संलग्न रहकर संसार-सागर पार करते हैं। किंतु यह मैं तो सब साधन छोड़कर घोर भवसागर में डूबता ही जा रहा हूँ।

'कतिपय' -कुछ लोग, अर्थात् अत्यन्त सौभाग्य वाले लोग भगवान् का ध्यान कर पाते हैं। ध्यान मायने विजातीय प्रत्यय बिना बीच में आये सजातीय प्रत्ययों का प्रवाह चलता रहे अर्थात् परमात्मा का चिन्तन चलता रहे, अनात्म- चिन्तन बीच में न आये। जब तक माया के जाल में फँसे हैं तब तक विजातीय प्रत्यय बीच में न आये, यह हो नहीं सकता। जब तक जगत् के मिथ्यात्व का निश्चय नहीं होगा तब तक विजातीय पदार्थों की तरफ दृष्टि जायेगी ही। शुरु-शुरु में परमात्मा का दर्शन होता है तो भी प्रकृति में कुछ- न-कुछ सत्यता का बोध रह जाता है, मन में होता है कि 'परमात्मा तो है ही पर कभी अनात्म-पदार्थों की आवश्यकता पड़ सकती है'। जबकि ये पदार्थ सर्वथा मिथ्या होने से किसी का कोई कल्याण कर नहीं सकते हैं! अनात्म- पदार्थ स्वरूप से ही तुच्छ हैं। परमात्म-साक्षात्कार दृढ होने के बाद अनात्मा के लिये प्रवृत्ति नहीं होगी और सजातीय प्रवाह सदा चलता रहेगा अत: इस ध्यान को कोई-कोई प्राप्त कर सकता है। यह संसार बड़ा दुस्तर है, दुख से, मुश्किल से भी तरा जा नहीं सकता है। इस भवसागर से ऐसे योगी पार हो जाते हैं जो अनात्मा के मिथ्यात्व को जानकर उनकी ओर थोड़ा भी ध्यान न देकर केवल परमात्मा पर ध्यान एकाग्र रखते हैं। एकमात्र परमात्मा का ही ध्यान करना चाहिये, एकमात्र वही चिन्तन करने

लायक है। इस प्रकार जो चिन्तन में रहता है वह भाग्यशाली है।

दूसरे वे जो ध्यान-योग का अभ्यास नहीं कर पाते वे भगवान् के चरण-कमलों का अर्चन करते हैं। चरण के लिये यहाँ पाद 'शब्द' रखा। पाद मायने जिसके द्वारा पता लगता है कि कोई कहाँ गया था, कहाँ से आया था। हमारे अंदर परमात्मा ने किधर से प्रवेश किया? प्रतिबिम्ब रूप से प्रवेश किया। जब हम प्रतिबिम्ब-भाव छोडकर उनके बिम्बभाव को पकड़ लेंगे तब हम मक्त हो जायेंगे। मुक्त को न बंधन की प्रतीति होती है और न ही यह कि 'मैं अब मुक्त हूँ'। परमात्मा सम-स्वभाव है, सदा एकरस है उत: उससे अपना अभेद समझने पर अपनी नित्य मुक्तता ही भासमान रहती है, 'पहले बद्ध था' ऐसा कोई निश्चय नहीं बचता। वास्तव में विधिवत् अर्चना तभी होगी जब यह सत्य अनावृत हो। पूजा करते समय 'न्यास' के द्वारा यह भावना की जाती है कि तत्-तत् अंगों में परमात्मा ही स्थित है अर्थात् पूजा-काल के लिये जीवभाव छोड़कर परमात्म-भाव स्थापित करते हैं। यह बोध हमेशा रखना उद्देश्य है, पूजा-काल में रखना अभ्यास है। जल छिड़क कर जो अपनी पवित्रता करते हैं वह भी इस तथ्य को याद दिलाने के लिये कि अनात्म-पदार्थों सृ उपाधियों से जो हममे विकृति आयी है

उसे हटाकर, पदार्थ-शोधन कर, स्वीाावत: शुद्ध परमात्मरूप से ही रहना वास्तविक विधि है। बिम्बरूप से परमात्मा हमारा नियंत्रण करनेवाला है - यह समझे बिना परमात्मा की वास्तविक अर्चना नहीं होगी। जड शिला आदि पर जड जल-पुष्प आदि के अर्पण से परमात्मा की अर्चना सिद्ध नहीं हो जाती! जिस पर चढ़ा रहे हैं व जो चढ़ा रहे हैं दोनों की चेतनता समझने पर ही वह अर्पण परमात्मा का पूजन होगा। जैसे माता का शरीर जड दीखता है पर हमें निश्चय है कि माता चेतन है तभी उसकी सेवा करते हैं, पैर दबाते हैं। माता का जड शरीर देखते हुये भी निश्चय है कि माता चेतन है तभी उसकी सेवा करते हैं। जानते हैं कि शरीर दृश्य होने से जड है पर प्रतीति होती है कि जैसे हमारा हाथ चेतन है वैसे उसका शरीर चेतन है तभी हम सेवा करते हैं। चेतन से चेतन की सेवा होती है। सेव्य माता है; जड शरीर की सेवा करते हुये भी निश्चय होता है कि 'मैं चेतन माता की सेवा कर रहा हूँ'। इसी प्रकार जड मूर्ति की पूजा करते हुए यह भाव यदि है कि 'यह चेतन है, फूल भी चेतन है', तब पूजा होगी। यह तभी होता है जब शास्त्रादि में पूर्ण श्रद्धा हो। मूर्ति में चेतन- दृष्टि करना बड़ा मुश्किल है। इसलिये तैत्तिरीय उपनिषद् में बताया कि 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य-देवो भव, अतिथि देवो भव', माता पिता गुरु और अतिथि में

देवबुद्धि करेंगे चेतन में चेतन की दृष्टि सरल है। केवल कर्मरूप से जो मूर्ति-पूजा की जायेगी वह तत्-तत् फलों को उत्पन्न कर देगी परंतु यदि दुस्तर भव पार करना है तो चेतन दृष्टि बनाना आवश्यक है।

जो इस दृष्टि को भी नहीं बना पाते, वे केवल अपने लिये कहे वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हैं; स्वाध्याय, जप-तप, तर्पण आदि करते हुये यह भावना रखते हैं कि 'आपने जो-जो आज्ञा दी है उस-उस को कर रहा हूँ'। विजातीय प्रत्यय को छोड़ सजातीय प्रत्यय में रहने वाला तो भवसागर से सीधे ही तरता है। दूसरे, क्रम से तरते हैं। एक उत्तम, दूसरा मध्यम और तीसरा सामान्य अधिकारी है। भेद तीनों में है पर ये किसी-न-किसी प्रकार तर ही जायेंगे।

पर, दीक्षितजी कहते हैं, मैं न ध्यान करता हूँ और न ही आराधना, न ही वर्णाश्रम-धर्म का पालन करता हूँ मैं इन तीनों साधनों को जानते हुये भी नहीं करता हूँ। घोर मायने भयानक। यह संसार घोर ही है। जो भेदवान् है उसकी कभी हानि होती है कभी वृद्धि होती है। संसार के हर पदार्थ की घटोतरी-बढ़ोतरी होती ही है। बच्चा पैदा होकर जब रोता है तब ही निर्णय होता है कि वह जीवित है, तब सब प्रसन्न होते हैं। क्रन्दन से ही संसार शुरु होता है। अत: इसको घोर संसार कह

दिया। संसार के अंदर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद मात्सर्य का जल भरा है, इसी के अंदर जीव बार-बार डूब रहा है। तालाब के अंदर कोई डूब जाये, तैरना न आता हो, तो इन्द्रियाँ व मन आकुल-व्याकुल होने से उसे हित-अहित का ज्ञान नहीं रहता है; यदि कोई उसे छुडाने जाता है तो हित-अहित का ज्ञान न होने से डूबता व्यक्ति उससे चिपट जाता है, अत: छुड़ानेवाला उसे घूँसे मार-मार कर दूर करता है परंतु हाथ पकड़े भी रहता है! इसी प्रकार शिष्य इस मोह-मद के समुद्र में डूब रहा है। वह गुरु के पास जाता है तो संसार के राग-मोह की तरह ही गुरु से चिपटता है, पर गुरु उसी प्रकार से प्रेम करे तो अपने आप को भी भ्रष्ट करेगा! अत: गुरु हाथ तो पकड़े रहता है लेकिन ज्ञान के घूसे मारता रहता है। जीव अपने हिताहित को न जानने के कारण इस भवसागर में बार-बार डूब रहा है। इसका उद्धार परमेश्वर ही करते हैं, उन्हीं की कृपा से जीव संसारसागर में डूबे बिना इससे पार जा सकता है।। **६**।।

पूर्व श्लोक में कहा कि 'कोई परमात्मा में चित्त स्थिर करके, कोई सब चीज़ों में परमात्म-दृष्टि कर आराधना करके, कोई अपने धर्म का पालन करते हुये परमेश्वर की आज्ञा मानकर साक्षात् या क्रमश: संसार सागर से तर जाते हैं। यह सब जानते हुये भी मैं बार-बार संसार सागर में डूबता हूँ'। कारण क्या है? जन्म

सफल करने के लिये भगवान् शंकर की आराधना करने में क्या रुकावट है? शुद्र हो या म्लेच्छादि हो, क्या प्रतिबन्धक है? इसके उत्तर में अप्पय दीक्षित कहते हैं कि सिवाय मेरे मन के कोई प्रतिबन्धक नहीं! भगवान् ने तो सब सुविधायें दी हैं कि इ

उत्पद्यापि स्मरहर महत्युत्तमानां कुलेस्मिन्
नास्वाद्य त्वन्महिमजलधेरप्यहं शीकराणून्।
त्वत्पादार्चाविमुखहृदयश्चापलादिन्द्रियाणां
व्यग्रस्तुच्छेष्वहह जननं व्यर्थयाम्येष पाप:।। ७।।

हे कामनिवारक! श्रेष्ठ जनों के इस महान् कुल में पैदा होकर भी और आपकी महिमारूप जलधि के स्वल्प कणों का आस्वादन करके भी यह पापात्मा मैं, इन्द्रियों की चपलतावश आपके चरणों की अर्चना से विमुख हुए हृदय वाला व्यग्र रहकर तुच्छ विषयों में जन्म व्यर्थ गँवा रहा हूँ, यह अति कष्ट की बात है।

'हे स्मरहर'! स्मर अर्थात् कामना। काम स्मरणरूप ही है। भोग का स्मरण ही पुन: उस भोग में प्रवृत्त करता है। स्मरण के द्वारा ही काम प्रवृत्ति कराता है, इसलिये उसे स्मर कहते हैं। उसका हरण करने वाले स्मरहर भगवान शंकर हैं। उसका हरण कैसे होता है? ज्ञानग्नि से ही कामना का नाश सम्भव है। अज्ञान

से ही कामना उत्पन्न होती है। जब तक अज्ञान है तब तक कामना होती ही है, अज्ञान के हटने से ही कामना नष्ट होगी। मैं कामना को नष्ट करने में प्रवृत्त नहीं हो रहा इसलिये 'एष पाप:' मैं पापी हूँ। ब्राह्मण के श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न हुआ हूँ। पर ब्राह्मण होने मात्र से ही मनुष्य परमात्मा की तरफ लगे, ऐसा ज़रूरी नहीं है, क्योंकि देखने में आता है कि उत्तम कुल में जन्म लेकर भी बहुत से लोग परमात्मा की तरफ नहीं लगते जबकि अत्यन्त निकृष्ट कुल में जन्म लेकर भी कुछ लोग परमात्मा की ओर लग जाते हैं। इसलिये ब्रह्मोत्तरखण्ड में कहा है -

'किं भावयं किमभाव्यं वा संसारेडस्मिन् भ्रमात्मके
ईश्वरस्य तु या माया तस्या: को वेत्ति चेष्टितम्।।'

क्या अच्छा है क्या नहीं, इसे क्या सोचना! ईश्वर की माया के प्रभाव को कौन जानता है! हरिणी के गर्भ से शृङ्ग ऋषि उत्पन्न हुये। सुराष्ट्र राजा के हाथ को छूकर अप्सरा तत्काल गर्भिणी हो गयी जिससे तापस मनु उत्पन्न हो गये। मछली के पेट से सत्यवती जन्मी, उससे भगवान् वेदव्यास पैदा हुये। वसुदेव जेल में थे उनसे संपर्क के बिना रोहिणी से बलराम पैदा हुये। इस प्रकार इस सृष्टि में इतना वैचित्रय है कि किसी विषय में मनुष्य यह नहीं कह सकता कि 'मैं निभ्रान्त हूँ'। फिर भी जो

शुद्ध कुल में उत्पन्न हैं उनकी विशेषता तो है ही। ऐसों के लिये भगवान् ने 'योगभ्रष्ट' - शब्द का प्रयोग किया है। हम सभी का कुल उत्तम है: आर्याशतक में अप्पय दीक्षित ने कहा है कि चाहे घोर असिपत्र वन के नरक में हमें जाना पड़े, या घोर अज्ञान-अंधकार हमारे ऊपर रहे तो भी क्या फर्क पड़ता है! क्योंकि हम शैव हैं - ब्रह्मा से हम सब उत्पन्न हुये, ब्रह्मा शंकर से उत्पन्न हुये अत: ब्रह्मा से लेकर आज तक शंकर के वंशज हैं। जिस अवस्था में भी चला जाये है, तो पुत्र पिता का ही। वैसे अप्पय के पिता श्रीरंगराजाध्वरी भी वेदान्त के विद्वान और शिव भक्त थे, अत: अप्पय स्वयं उत्तम महान् कुल में पैदा हुए थे यह, प्रसिद्ध ही है।

दीक्षित जी कहते हें कि मेरा कुल ही उत्तम नहीं है, मैंने स्वयं भी भगवान् की कृपा का अनुभव किया है। शंकर की महिमा मानो समुद्र सी अथाह है तो मैंने जो उसका अनुभव किया है वह छोटी-छोटी बूँदों की तरह है पर अनुभव परमेश्वर की महिमा का ही किया है। एक बार रास्ते में अप्पय को मारने गुण्डे आये थे तो भगवान् शंकर ने त्रिशूल से इनकी रक्षा की थी। इसी तरह प्रत्येक जीव पर जब-जब घोर कठिनाई पड़ती है, लगता है कि कहीं से सहायता नहीं मिलेगी, तब भी परमात्मा सहायता देता है और लगता भी है कि भगवान् ने सहायता की। पर थोड़े समय बाद हम भूल जाते हैं!

क्यों? 'इन्द्रियाणां चापलात्'- इन्द्रियों की चपलता के कारण, विषय भोग की इच्छा के कारण इन्द्रियाँ व्यग्र हो जाती हैं। भूख लगती है तो इन्द्रियाँ ऐसी व्यग्र हो जाती हैं कि सिवाय अन्न के कुछ नहीं सूझता है। यहाँ तक प्रयोग किया गया है कि किसी को सात दिनों तक भूखा रखा, फिर उसके पास कहीं जूता जलाया और पूछा 'क्या जल रहा है'? भूख की तीव्रता से जूता जलने में भी उसे खाद्य पदार्थ की प्रतीति हुई। जिस-जिस काल में जिस-जिस इन्द्रिय के विषय की कामना में तीव्रता होगी तब परमात्मा की इच्छा कम होती जायेगी।

ये विषय कैसे हैं? तुच्छ हैं। पर मन को ये नोचते हैं। रूप-रस आदि इन्हीं विषयोंका अनादि काल से हमने भोग किया है पर अभी भी इन्द्रियाँ इन्हीं में रमण करती हैं और हमें व्यग्र बनाती रहती हैं। गधे, सूअर, कुत्ते भी इन्हीं भोगों में रमण करते हैं अत: इन्हें भोगना मनुष्य की विशेषता नहीं है। परन्तु मनुष्य इस बात को याद न कर तुच्छ पदार्थों में व्यग्र हो जाता है। महत् कुल में जन्म लेने पर भी, इन पदार्थों की तुच्छता को जानते हुये भी, फिर इन्द्रियों की चपलता के कारण व्यग्र हो जाता है। शास्त्र कहता है कि ब्राह्मण के घर जन्म होने पर भी जिसने ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं किया, वह ब्रह्म-हत्यारा है! इसीलिये इन्द्रियों के विषय की तुच्छता के मिथ्यात्व को समझना बड़ा ज़रूरी है। जब तक

संसार के प्रति तुच्छ बुद्धि नहीं होगी तब तक उससे इन्द्रियों को हटाने में समर्थ नहीं होंगे और अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकेगी। यदि संसार के पदार्थों में किंचित् भी सत्यता लगती है तो समझ लो कि अभी परमात्म-दर्शन हुआ नहीं। इसीलिये भाष्यकार कहते हैं अद्वैतनिष्ठा होने पर संसार के पदार्थों के प्रति किंचित् भी आकर्षण नहीं रहता। ऐसी तुच्छता न जानने का प्रभाव बताया कि इन्द्रियों की चपलता के कारण, भगवान् की अर्चना के जो तीन प्रकार बताये थे, उनसे उनसे मैं विमुख रहा।

'जननं व्यर्थयाम्येष पाप:'। लौकिक दृष्टि से अप्पय दीक्षित के पास धन, यश, सब कुछ था पर ये सुखाभास विवेकी को छोड़ सब को सुख देते हैं। हम लोग घण्टा भर दुनिया की बात करते रहें, बीच में परमात्मा का ध्यान नहीं आये, तो हमें कुछ नुकसान लगता ही नहीं, परंतु जो अत्यन्त सूक्ष्म वृत्ति वाले होंगे उनका मन **२४** घण्टे में **२४** मिनट भी इधर-उधर चला जाये तो उन्हें लगता है कि 'मैं किसी काम का नहीं, जीवन व्यर्थ है'। शुभ बुद्धि वाले सच्चिदानंद में स्थित रहने को सम्पत्ति समझते हैं, यदि थोड़ी देर भी इससे विपरीत बुद्धि हो तो उसे घोर आपत्ति समझते हैं, व्यवहार नाम की ढाल सामने नहीं रखते हैं। इसी लिये यहाँ अप्पय दीक्षित ने स्पष्ट कहा कि 'मैं जन्म व्यर्थ खो

रहा हूँ'। ऐसी दृष्टि बने बिना साधना में गाम्भीर्य और तत्परता नहीं आती ।।**७**।।

इसी बात को आगे भी कहते हैं:

अर्कद्रोणप्रभृतिकुसुमैरर्चनं ते विधेयं
प्राप्यं तेन स्मरहर फलं मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मी:।
एतज्जानन्नपि शिव शिव व्यर्थयन् कालमात्म-
न्नात्मद्रोही करणविवशो भूयसाऽध: पतामि ।।**८**।।

हे स्मरहर! अर्क, द्रोण आदि फूलों से आपकी अर्चना की जा सकती है जिससे मोक्षरूप साम्राज्य की लक्ष्मी फल मिलता है। शिव! यह जानते हुए भी आत्मद्रोही मैं करणों के बेबस हुआ अपना समय व्यर्थ गँवाते हुए अत्यधिक नीचे गिर रहा हूँ।

हे स्मरहर! आपकी अर्चना, आराधना करने में कठिन चीज़ों की ज़रूरत नहीं। अर्क, द्रोण जैसे फल सब जगह मिलते हैं। अर्क का स्वरूप बृहदारण्यक उपनिषद् में बताया है : चूँकि उसकी अर्चना की जाती है अत: सूर्य को अर्क कहा जाता है। अविशेष भाव ही अर्कता है। अन्त:करण की उपाधि का त्याग करना ही अर्क पुष्प चढ़ाना है। द्रोण नाद को भी कहते हैं, जिसमें पानी भरा जाता है। अन्त:करण के अंदर ही हमने सारी वासनाओं

को, संस्कारों को भरा है। अत: अज्ञान व अन्त:करण - इन दोनो उपाधियों को परमात्मा को चढ़ाना है कि 'अन्त:करण मेरा नहीं, परमात्मा का है'। अज्ञान को नाश करने वाला परमात्मा है। सूर्यकान्त मणि में आरुढ सूर्य ही घास को जलाता है। कहने में आता है कि ब्रह्माकार वृत्ति से अज्ञान नष्ट हुआ, पर वस्तुत: उस वृत्ति में आरुढ चेतन ही अज्ञान का नाशक है। शिव ही मेरी अन्त:करण की वृत्ति में आरुढ होकर अज्ञान का नाश करोगा। अहम्-भाव का त्याग ही वास्तविक अर्चना है। शिव की अर्चना अत्यन्त साधारण है, अर्क, द्रोण आदि पुष्पों से भी हो जाती है।

'तेन मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मी: फलं प्राप्यम्' - इस अर्क, द्रोण के द्वारा जो अर्चना की जाती है उससे मोक्ष-साम्राज्य लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। अहं के त्याग से ही मोक्ष की प्राप्ति है। बंधन का अनुभव अहम् है अत: अहम् की निवृत्ति हुई तो मोक्ष स्वत: सिद्ध है। अज्ञान का आश्रय-विषय चेतन है लेकिन बन्धन प्रकट होने का प्रथम स्थल अहंकार है। अहंकार का समर्पण यही है कि उसके चेतन-अचेतन अंशों को पृथक कर अचेतन अंश का मिथ्यात्व समझा जाये व चेतनमात्ररूप सेरहा जाये। अर्क, द्रोण समर्पण से तात्पर्य अज्ञान व अन्त:करण से छूटना है। इससे अविद्या, काम, कर्म का अवसान हो जाता है इसलिये इसे मोक्ष कहते हैं जो अखण्ड आनन्दरूप

साम्राज्य-लक्ष्मी है। भगवान् शंकर को जो चीज़ दे दो, जो आहुति दे दो, जो जप कर लो, चावल नैवेद्य आदि चढ़ा दो, यदि एक भी करते हो तो वह अक्षय फल दे देता है, ऐसा ही उन्होंने विधान किया है। अत: भगवान् विष्णु इन्द्रनीलमणि का लिंग बनाकर पूजन करते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक देवता भगवान् शिव का पूजन करते हैं।

शिव की अर्चना से अनन्त मोक्ष की प्राप्ति निश्चित है। यह जानते हुये भी मैं अपना समय व्यर्थ खो रहा हूँ! यों समय खोने से मैं अत्यंत विपत्ति में पड़ गया हूँ, - यह बताने के लिये 'शिव शिव' कहा है। कोई घोर आपत्ति आये तो मुँह से 'शिव शिव' निकलता है। भगवान् शंकर को 'आत्मन्'! सम्बोधन करते हैं। यह स्पष्ट करने को कि - आप मेरे आत्मस्वरूप हैं, इतने नज़दीक होने पर भी अनके कल्प बीत गये पर आपके भजन में नहीं लगा हूँ इसलिये मैं आत्मद्रोही हूँ। हे परमात्मन! मैं अपने आपको आत्मद्रोही कहूँ या शिवद्रोही, एक ही बात है, क्योंकि आप मेरा स्वरूप हैं। क्यों करता हूँ आत्मद्रोह? अपने जीवभाव को, देह व देह-सम्बन्धियों को आप से ज़्यादा ज़रूरी समझता हूँ। शरीरादि व शरीरादि-सम्बन्धी पुत्र, मित्र आदि को आलम्बन कर आपके स्वरूप की तरफ़ दृष्टि नहीं करता हूँ, यही

आत्मद्रोह है। इससे 'भूयसाडध: पतामि', बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में गिरता हूँ ।।८।।

भक्त अपनी विवशता व्यक्त करता है:

किं वा कुर्वे विषमविषयस्वैरिणा वैरिणाहं
बद्ध: स्वामिन् वपुषि हृदयग्रन्थिना सार्धमस्मिन् ।
उक्ष्णा दर्पज्वरभरजुषा साकमेकत्र नद्ध:
श्राम्यन् वत्स: स्मरहर युगे धावता किं करोतु।।९।।

हे स्वामिन्! विविध विषयों की ओर स्वच्छन्द दौड़ने वाले हृदयग्रन्थिरूप बैरी के साथ इस शरीर में बाँध दिया गया मैं क्या तो करूँ! हे काम निवारक! मद के तेज़ बुखार वाले दौड़ते हुए साँड के साथ एक जुए में बँधा, थका हुआ छोटा बछड़ा क्या कर सकता है!

हे स्वामिन् ! आप मेरे नाथ हैं, मालिक हैं। मालिक पशु को जहाँ चाहे भेज देता है मुझे आपने जोत दिया है जबकि मैं वत्स हूँ। एक साल तक का बछड़ा वत्स होता है। ऐसे वत्स को आपने जवान बैल के साथ जोत दिया है। मैं साल भर के बछड़े जैसा और जिसके साथ जोता है वह जवान है। जवान भी कैसा है? 'दर्पज्वरभरजुषा', दर्पज्वर से भरा है अत: अत्यन्त विषम विषयदेशों में स्वच्छन्द रूप से दौड़नेवाला

है। उसके साथ एक ही जुए में मुझे नद्ध, ज़ोड़ दिया है। ऐसी हालत में मैं क्या कर सकता हूँ! विषम, उबड़-खाबड़; रास्ते में कहीं कीचड़ पत्थर रोड़ी पड़े हुये हों तो उस पर चलना कठिन होता है। इसी प्रकार संसार के विषय अत्यन्त विषम है। विषयों की प्राप्ति कठिन, प्राप्त हो जायें तो रक्षा कठिन । रक्षण करो तो भी नष्ट हो ही जाते हैं। अत: ये विषय विषम हैं। ऐसे विषयों के प्रति स्वच्छन्द हो यह जवान साँड दौड़ता है। साँड कौन है? हृदय की ग्रन्थि है। अन्त:करण की अहंकार-वृत्ति व चेतन, दोनों की गाँठ। अन्त:करण जवान है, दर्पज्वर से भरा है, अत: विषयों की ओर दौड़ रहा है जबकि मैं तो बछड़ा ही हूँ। इस दु:स्थिति में मैं क्या कर सकता हूँ?

हृदय की ग्रन्थि, अन्त:करण तो स्वच्छन्द रूप से विषयों की ओर जा रहा है, मैं कैसे उसे उसे रोकूँ? चेतन बिना उपाधि के कुछ कर नहीं सकता। ज्ञान भी अन्त:करण से ही होगा। बिना उपाधि के मैं कुछ कर नहीं सकता। जो उपाधि आपने दी है वह बड़ी प्रबल है दसवें श्लोक में कहेंगे कि चिदाभास अन्त:करण को वश में करने में सफल नहीं हो सकता है। मैं बिम्ब के अधीन हूँ अत: मेरी उपाधि,अन्त:करण को आप ही नियंत्रित करिये। मैं आपकी शरण में हूँ, बिम्बानुकारी हूँ; मैं साक्षीरूप से स्थित हूँ अत: अन्त:करण को आप ही वश में करिये। जैसे जुए में दो बैल बाधँते हैं वैसे 'वपुषि' -

शरीर में हृदयग्रन्थि से मैं बँधा हूँ। कर्म को जहाँ बोया जाता है या कर्म द्वारा ही जो बोया गया वह वपु है। इस शरीर में आपने बाँध दिया है, आप ही स्वामी हैं, मैं कुछ करने में समर्थ नहीं हूँ। जो-जो इस शरीर से भोगना है वह आपने निश्चय कर लिया है। अन्त:करण जवान है भोगों की तरफ दौड़ता है, मैं तो वत्स हूँ, थक जाता हूँ। मैं क्या कर सकता हूँ! ।।९।।

पूर्व श्लोक में बतलाया कि इन्द्रिय-निग्रह करने में मैं असमर्थ हूँ। कोई कहे कि इन्द्रिय-नियंत्रण नहीं कर पाते तो काम्य कर्म करके संसार का भोग करो। इस पर भक्त कहता है कि सत्संग के कारण मैं यह भी नहीं कर पाता हूँ -

नाहं रोद्धुं करणनिचयं दुर्नयं पारयामि
स्मारं स्मारं जनिपथरुजं नाथ सीदामि भीत्या।
किं वा कुर्वे किमुचितमिह क्वाद्य गच्छामि हन्त
त्वत्पादाब्जप्रपदनमृते नैव पश्याम्युपायम् ।।१०।।

हे नाथ! मुश्किल से नियंत्रण किये जा सकने वाले इन्द्रियगण को मैं रोक नहीं पाता। जन्म-मार्ग के रोग को बारम्बार यादकर डर से दु:खी हो जाता हूँ। क्या करूँ? इस परिस्थिति में क्या उचित है? मुझे बड़ा विद है।

आपके चरणकमल की शरण लेने के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं सूझ रहा है।

इन्द्रियों को वश में लाना बड़ा मुश्किल है। ये विषयों की ओर दौड़ती हैं इसलिये हम अंदर स्थित शिव को नहीं देख सकते हैं। दूसरी तरफ़, 'जनिपथरुजं' - जन्म के बाद मरण, मरण के बाद यह जन्म यह जो रास्ता है इसमें नाना रोग हैं, पीडा है, दु:ख हैं। इस बात को जब 'स्मारं स्मारं' स्मरण करता हूँ तब 'भीत्या सीदामि'। डर से पीड़ित हो जाता हूँ। इस प्रकार काम्य कर्मों में प्रवृत्ति कर तो लेता हूँ पर फिर सोचता हूँ कि यह जन्म-मरण का दु:ख भरा रास्ता है यह याद कर भय से काँपता हूँ। गर्भ में आना नरक ही है, सबसे बड़ा दु:ख है। गर्भ में आकर वहाँ की पीडा से दु:खी हो पूर्वजन्म के कर्म याद आते हैं तब जीव प्रार्थना करता है कि 'इस योनि से बाहर आ गया तो शंकर जी का ही भजन-पूजन करूँगा' पर पैदा होते ही सब भूल जाता है! चूँकि मेरे अंदर शास्त्र के संस्कार हैं अत: भोग के बाद आगे क्या होगा - यह सोचकर भय से काँपता हूँ। फिर भी भोग-वासना प्रकट हो जाने पर प्रवृत्त हो जाता हूँ। एक बात पर दृढ नहीं रह पाता हूँ। मेरे लिये क्या उचित है यह नहीं जान पाता हूँ। कहाँ जाऊँ? बस एक ही उपाय दीखता है - आपके चरणों

का सहारा लेना; बाकी मेरे वश में कुछ नहीं है। पेड़ की डाल काट दो तो गिर जाती है। इसी प्रकार से अहंकार की उपाधि से अपने को काट दो तो केवल चिन्मात्र जो स्वरूप है उसकी शरण सिद्ध हो जाती है। जीव प्रतिबिम्बरूप होने से बिम्बानुकारी भी है और उपाधि के परवश भी है जितनी उपाधि अधीनता ज़्यादा रहेगी उतना सुख-दु:ख का प्रभाव ज़्यादा रहेगा, भय, पीडा, विषाद रहेंगे। जितनी अधिकाधिक बिम्बानुकारिता होगी उतना साक्षिभाव बढ़ेगा, सुख-दु:ख आदि से विचलन क्रम होगा। प्रपदन यही है कि जीव अन्त:करण से सम्बन्ध छोड़कर आत्मरूप से ही रहे। मेरा वास्तविक स्वरूप साक्षी है - इस निश्चय पर दृढ रहना प्रपदन है, यही कल्याण का एकमात्र उपाय है ।।१०।।

उल्लंघ्याज्ञामुडुपतिकलाचूड ते विश्ववन्द्य
त्यक्ताचार: पशुवदधुना मुक्तलज्जश्चरामि।
एवं नानाविधभवतति प्राप्तदीर्घापराध:
क्लेशाम्भोधिं कथमहमृते त्वत्प्रसादात् तरेयम्।।११।।

हे विश्ववन्द्य चन्द्रशेखर! आपकी आज्ञा का उल्लंघन कर अब निर्लज्ज हो सदाचार छोड़कर पशु की तरह रहता हूँ। यों नाना प्रकार की जन्म सन्तति में एकत्र बड़े अपराधों वाला मैं आपकी कृपा के बिना क्लेशों के समुद्र को कैसे तर सकूँगा?

'हे विश्ववन्द्य!' - चेतनस्वरूप होने से सारे संसार में एकमात्र शिव ही वंदनीय हैं। उडु - नक्षत्र; उडुपति अर्थात् नक्षत्रों के पति चन्द्रमा की कला जिसके सिर पर है वह उडुपतिकलाचूड है। चन्द्रमा मन का प्रतीक है। दूर से तुमको जटा के ऊपर चन्द्रमा दीख जाये तो पता लग जायेगा कि ये भगवान् शंकर हैं। इसी प्रकार मन दीखता है तो पता लग जाता है कि मन का अधिष्ठान परमात्मा है। ऐसे विश्ववाद्य आपकी आज्ञा का उल्लंघन करता हूँ! आपकी आज्ञा है 'बहुत से शब्दों के चक्कर में मत पड़ो, ये सब वाणी के विलास हैं। केवल तत्त्वमस्यादि वाक्य का विचार करो'। पर मैं आपकी यह आज्ञा न मानकर संसार के शब्दों का विचार करता हूँ। आपकी आज्ञा है कि आत्म-दर्शन करो, किंतु मैं अनात्मा का दर्शन करता हूँ । 'जीवनभर अग्निहोत्र करो, प्रतिदिन शिवलिंग की तीन बार पूजन करो' जब तक ये साधारण आज्ञायें भी नहीं मानता हूँ, 'रास्ते में थूको नहीं, जलस्थान के पास मल-मूत्र का त्याग न करो' - इन सब आचार सम्बन्धी आज्ञाओं को भी नहीं मानता हूँ, सभी का उल्लंघन करता हूँ। 'त्यक्ताचार:' - आचारों को छोड़े हुये हूँ। आचार में सत्य, अहिंसा आदि सब आ जाते हैं। न मैं आपकी आज्ञा मान सकता हूँ, न पूर्णरूप से नैतिक जीवन बिता

सकता हूँ। पशुवत् आचरण करता हूँ; क्या खाना चाहिये क्या नहीं, कब सोना चाहिये कब पीना चाहिये - यह सब कुछ पशु को पता नहीं रहता है। पशु कोई काम नियम से नहीं कर पाता है। यों करते हुये भी मुझे लज्जा नहीं आती है! पशु जिस काम को पसंद नहीं करता, वह उससे ज़बरदस्ती मार कर भी करवाते हैं। कभी उन्मुक्त हो पास का खेत खा लेता है, उसे कोई लज्जा नहीं आती। 'नानाविधभवततिप्राप्तदीर्घापराध:' - अनेक प्रकार की संसरण की संतति में, क्रम में, मैंने अनेक अपराध बटोर रखे हैं। परमात्मा की आज्ञा न मानकर जो दुष्कर्म होता है वह अपराध है। उसके फलस्वरूप क्लेश के अम्भोधि अर्थात् सागर में डूब रहा हूँ। अविद्या, अस्मिता,राग, द्वेष, अभिनिवेश ये क्लेश हैं। अज्ञान से अस्मिता (मैंपना), प्रिय, प्रति राग अप्रिय से द्वेष और 'मैं इसी प्रकार कर्ता-भोक्ता बना रहूँ' यह अभिनिवेश है। सिवाय आपकी प्रसन्नता के और कोई उपाय नहीं कि मैं इस क्लेश सागर को तर सकूँ। आपका प्रसाद यही है कि मैं साक्षिभाव में स्थित हो सकूँ। मैं प्रार्थना तो करता हूँ पर फिर-फिर अन्त:करण के साथ एक होकर अपराधों को भी कर लेता हूँ! अत: आपके प्रसाद का ही भरोसा है, अन्य किसी का नहीं ।। **११**।।

क्षाम्यस्येव त्वमिह करुणासागर: कृत्स्नमाग:
संसारोत्थं गिरश सभयप्रार्थनादैन्यमात्रात्।

यद्यप्येवं प्रतिकलमहं व्यक्तभाग:सहस्रम्
कुर्वन् मूक: कथमिव तथा निस्त्रप: प्रार्थयेयम्।। १२।।

हे गिरिशार्या! मेरे अपराधों के बारे में आप करुणा के समुद्र हैं अत: भय सहित प्रार्थना द्वारा दीनता प्रकट करने मात्र से आप सांसारिक जीवन में होने वाले सारे पाप माफ़ कर देते हैं। ऐसा हाने पर भी मैं हर क्षण खुल्लम-खुल्ला हज़ारों पाप करता ही रहता हूँ अत: गूंगा बन गया हूँ, निर्लज्ज होकर सभय सदैन्य प्रार्थना कैसे करूँ!

हे गिरीश! गिरि अर्थात् वेदान्त वाक्यों के अंदर जिसका निवास है; वेदवाणी के अंदर आप रहते हैं अत:, आप गिरीश हैं। 'इह' मेरे जैसे लोगों के प्रति आप 'करुणासागर:' करुणा के सागर हैं। अपने आप के ऊपर हमेशा दया आती है! मनुष्य कोई अपराध कर ले तो उस के पीछे दस कारण बतायेगा, पर दूसरा कोई वैसी गलती करे तो खूब गुस्सा आता है! अपने प्रति मनुष्य को कभी कठोरता की भावना नहीं आती है। वेदान्त को पढ़ने से पता लगता है कि मैं आपका आत्मस्वरूप हूँ। मैं अज्ञानी हूँ, खुद को दूसरों से और दूसरों को खुद से भिन्न ही समझता हूँ जिससे किसी के प्रति स्नेह और किसी से द्वेष रखने के कारण मैं असंख्य अपराध करता रहता हूँ पर इस संसार के अंदर किये जाने वाले सारे अपराधों को आप क्षमा कर देते हैं।

सभय - मुझ से गलती हो गई, पता नहीं क्या दण्ड मिलेगा? - इस प्रकार के भय से आप से प्रार्थना करता हूँ। दैन्य मायने दीनता का भाव। सभय प्रार्थना व दीनता देख आप क्षमा कर देते हैं। 'मात्रात्', - लेश भी होने पर, अर्थात् सच्ची दीनता न होवे, दीनता का अभिनय भी होवे, तो भी आप क्षमा कर देते हैं। 'यद्यप्येवं' यद्यपि ऐसी बात है फिर भी मैं घबराता हूँ। क्यों? 'प्रतिकलमहं व्यक्तभाग:सहस्रम्' - मैं प्रत्येक क्षण हजारों पाप कर लेता हूँ! यह बात 'व्यक्तम्' अत्यंत स्पष्ट है। इसलिये 'मूक: ' - आपके सामने आने से डरता हूँ, मूक हो गया हूँ। मुझे लगा है कि लगातार बेशर्मी से अपराध ही करता रहते हुए किस मुँह से आपके सामने आकर क्षमायाचना करूँ ।।१२।।

अब कहते हैं कि यह भी संभव नहीं कि जीते जी न सही पर मरते समय ही माफ़ी माँग सकूँ -

सर्वं क्षेप्तुं प्रभवति जन: संसृतिप्राप्तमार्ग
श्चेत: श्वासप्रशमसमये त्वत्पदाब्जे निधाय।
तस्मिन् काले यदि मम मनो नाथ दोषत्रयार्त:
प्रज्ञाहीनं पुरहर भवेत् तत्कथं मे घटेत।।१३।।

साँस बंद होते समय आपके पदपंकज में चित्त लगाकर लोग संसार में अर्जित सब पाप छोड़ सकते हैं किंतु नाथ! उस समय अगर मेरा मन त्रिदोष से आर्त होकर प्रज्ञा खो बैठे तो हे त्रिपुरान्तक!; यह (अंतकाल में चित्तसमर्पण) भी कैसे संभव होगा!

'हे पुरहर! हे नाथ'! दो सम्बोधन कहे हैं, यद्यपि स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरों के सम्बन्धों का आप हरण करने वाले हैं, अन्त समय में आपका स्मरण करूँगा तो आप मेरे दोनों पुरों का हरण कर ही लेंगे तथापि मुझे वह दुर्लभ लगता है। प्रार्थना करने वाले का पाप-क्षमापन होने से उसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति हो जायेगी, फिर वहाँ ब्रह्मा के उपदेश से ज्ञान हो जायेगा। 'जन: ' जो आपने को जन्म वाला जानता है; जो स्वयं को जन्मवाला जानेगा, वही मरने वाला भी समझेगा। जन्म-रहित भाव प्राप्त करने का प्रयत्न करो, मरने से डरने से लाभ नहीं। जो अपने को जन्म लेनेवाला समझता है वह 'श्वासप्रशमसमये' अन्तसमय में यदि 'चेत: ' - अन्त:करण को, मन को 'त्वत्पदाब्जे निधाय' आपके चरणकमलों में स्थपित कर दें तो अनादि काल से संसार में कर्मों को करके जो पाप एकत्रित किये हैं, उनको नष्ट किया जा सकता है। अर्थात्, चाहे जितने पाप मनुष्य कर लेवे, मरते समय पश्चात्ताप हो जाये, मरते समय परमात्मा

की शरण ले ले, कि 'हे परमात्मन्! मुझ से भूल हुई, पाप हुये, आप क्षमा करिये', वे क्षमा कर देते हैं। अन्तिम समय में भी प्रार्थना ऐसा करने से कल्याण हो जाता है पर 'तस्मिन् काले' - श्वास की उस चरम निवृत्ति के समय में वात, कफ और पित्त तीनों धातु बढ़ जाने से अत्यन्त कष्ट होता है। दोष-त्रय के प्रकोप से मन आर्त हो जाता है। 'प्रज्ञाहीनं' - उस समय यह कहाँ याद रहता है कि परमात्मा की कृपा का चिन्तन कर क्षमा माँगू! ऐसी मूढ अवस्था में ोरा चित्त होगा, तब यह प्रपत्ति कैसे घटेगी? कष्ट से घबराया मन होने पर आप से अपराधों के लिये क्षमा माँगू, यह कैसे बनेगा? अथवा यदि कोई बीमारी न भी हुई तो संशय, विपरीतभावना असम्भावना - ये तीन दोष मन में रहते हैं। संशय -- जन्म-भर पाप करने से क्या क्षमा माँगने पर परमात्मा क्षमा कर देंगे? असम्भावना -- ऐसा कर देंगे तो सब व्यवस्था गड़बड़ हो जायेगी, अत: यह असम्भव है। विपरीतभावना -- परमात्मा कभी क्षमा नहीं करते, वे तो दूध का दूध पानी का पानी करते हैं। इन तीन दोषों से मन डाँवाडोल हो रहा होगा, तो 'हे परमात्मन! आप मुझे क्षमा करिये' यह प्रार्थना करने की प्रज्ञा ही न होगी तो यह बात नहीं घटेगी कि मैं क्षमा माँग सकूँ।।**१३**।।

कहते हैं मरणकाल में मन के इन दोनो को हटा लो निश्चय बना लेना तो कहते हैं --

प्राणोत्क्रान्तिव्यतिकरदलत्संधिबन्धे शरीरे
प्रेमावेशप्रसरदमिताक्रन्दिते बन्धुवर्गे।
अन्त: प्रज्ञामपि शिव भजन्नन्तरायैरनन्तै
राविद्धोहं त्वयि कथमिमामर्पयिष्यामि बुद्धिम्।।१४।।

हे शिव! प्राणों के निकलने के सम्बन्ध से शरीर के सभी जोड़ जब टूट रहे होंगे, प्रेम का वेग बढ़ते हुए जब बंधुओं का वर्ग रो रहा होगा, तब मन में यह बोध रखने पर भी असंख्य विघ्नों से बिँधा मैं आपको यह बुद्धि कैसे अर्पित करूँगा?

मरते समय जब प्राण ऊपर को जाता है तब शरीर में एक-एक जगह से वह सम्बन्ध को तोड़ता है। कमर, जानु, मणिबन्ध -- जितने भी जोड़ हैं, इनसे प्राण टूट-टूट कर निकलता है। एक तरफ प्राण शरीर से जा रहा होता है, उसी समय बन्धुजन रो रहे होते हैं। जो प्रेम के पाश में बाँधते हैं वे बन्धु हैं जैसे पति, पत्नी, पुत्र, मित्र आदि। बन्धुवर्ग को प्रेम का आवेश आता है। ज़बरदस्ती जो अंदर घुस जाये वह आवेश है। जैसे कोई चाहता नहीं कि क्रोध चढ़ जाये, पर क्रोधावेश हो जाता है। ऐसे ही 'यह मेरा प्रिय है' इस प्रेम का आवेश हो जाता है कि

'हाय ! मेरा प्रिय जा रहा है'। वह आवेश प्रसार को प्राप्त करता है, बढ़ता जाता है। चारों ओर जब सब लोग रोने लगते हैं तब मुमुर्ष का भी हृदय चिरने लगता है। एक तरफ़ प्राण खिँच रहे होते हैं, दूसरी तरफ़ बन्धुवर्ग के रोने से हृदय चिर रहा होता है। अंदर जो अपनी प्रज्ञा है, उसके अंदर तक भी अनन्त अन्तराय अर्थात् रुकावटें आती हैं, कुतर्क उठते रहते हैं, श्रद्धा भी हिलती है। कुतर्क से कभी रक्षा हो नहीं सकती। दीक्षितजी कहते हैं -- इन सबके द्वारा मैं उस समय बिँधा हुआ होऊँगा तो आपके चरणों में प्रपत्ति मैं उस समय कैसे कर सकूँगा? अन्तकाल में शरण लेना बड़ा कठिन है। प्राय: अन्त समय में मनुष्य को मूर्च्छावस्था हो जाती है। बड़ा पुण्य हो तो प्राण जाते समय होशोहवास बना रहता है पर तो उस समय बन्धु याद आ जाते हैं, परमात्मा की शरणागति याद नहीं आती है! इसलिये अन्त समय में शरणागति करके कल्याण का भागी बनना भी सम्भव नहीं लगता है ।। १४।।

अत: कहते हैं कि जो करना है आज ही कर लें -

अद्यैव त्वत्पदनलिनयोरर्पयाम्यन्तरात्म-
न्नात्मानं मे सह परिकरैरद्रिकन्याधिनाथ।
नाहं बोद्धुं शिव तव पदं न क्रिया योगचर्या:
कर्तु शक्नोम्यनितरगति: केवलं त्वां प्रपद्ये ।। १५।।

हे अन्तरामन्! आपके चरणकमलों में आज ही अपने परिकरों सहित स्वयं को अर्पित कर रहा हूँ। हे पार्वतीपति! शिव! मेरी आपसे अन्य कोई गति नहीं है। मैं आपका पद समझ नहीं सकता, क्रियायें व योग कर नहीं सकता। अत: केवल यही करता हूँ कि आपको प्रपन्न हो जाता हूँ।

चित् जब अपने को अन्त:करण की उपाधि वाला समझता है तब वह चिदाभास है। कूटस्थ ही उपाधि से अपने को चिदाभास समझता है पर उसमें कोई विकार नहीं आता है। 'अन्तरात्मन्' सम्बोधन् से कहा कि आप मेरे हृदयकमल में बैठकर सारी इन्दियों कि, मन की व प्राण की चेष्टाओं को साक्षिरूप से प्रकाशित करते हैं। प्रकाशित करते हुये मेरे को अहं के साथी रूप से आपका सदा भान होता है अत: आप अन्तरात्मा हैं। मैं 'आत्मानम्' - अपने आप को अर्थात् अन्त:करण को 'सह परिकरै:' - इन्द्रियाँ, मन, प्राण सबके साथ आपके चरणकमलों में आज ही अर्पित कर देता हूँ, अब आप इन्हें चलावें। इस तरह प्रतिबिम्ब अन्त:करण की उपाधि को छोड़ बिम्बानुकारी हो रहा है। इन्द्रियाँ, मन, प्राण आदि मेरे साथ काम करते हैं अत: *परिकर* हैं। मैंने आज सब आपको अर्पण कर दिया, आप इस मन आदि को चाहे जैसे चलायें। जैसे अपना मकान बेच दिया तो उसकी कोई चिन्ता नहीं रहती, इसी प्रकार प्राण मन

आदि आपको अर्पित कर दिये तो इनके बारे में, इनके सुख-दु:ख के बारे में मुझे कोई चिंता नहीं है। कर्त्तृत्व व भोकतृत्व भावों का मैंने परित्याग कर दिया है। आप इन मन आदि को अपना लेंगे क्योंकि आप अद्रिकन्याधिनाथ हैं। अद्रि अर्थात् - पहाड़; जड पहाड़ की कन्या पार्वती चेतन हैं, इसी प्रकार पंच-महाभूतों से उत्पन्न बुद्धि चेतन है क्योंकि चेतन के आभास को ग्रहण करती है। मैं अपने को जीवभाव से बुद्धि का मालिक मानता हूँ पर वास्तव में उसके अधिनाथ तो आप ही हैं। जब भी मैं बुद्धि से कुछ करता हूँ, उसका नियंत्रण करने वाले आप ही हैं। परमात्मा सृष्टि को जैसी चलाते हैं वैसी ही चलती है, बीच में हम व्यर्थ अपनी टाँग अड़ाते हैं!

आप के चरणकमलों में मन इन्द्रियाँ प्राण इसीलिये अर्पण कर रहा हूँ क्योंकि आपको समझने के लिये आवश्यक ब्रह्माकार वृत्ति बनाने में मैं समर्थ नहीं हूँ। 'न क्रिया:' - शास्त्रों में जो संस्कार और यज्ञ दानादि बताये हैं, उनको करने में भी समर्थ नहीं हूँ। 'न योगचर्या:' योग की सिद्धि के लिये जो देहादि शोधन है, वह चर्या भी मेरे लिये सम्भव नहीं है। योगाभ्यास में उत्साह, निश्चल मन, धैर्य, तत्वचिन्ता अर्थात् बार-बार साक्षिरूप का चिन्तन, तीनों समय शिवपूजन, और जन-संग का परित्याग - ये छ: काम करने से योग आगे बढ़ता है। ये भी मुझ से होते नहीं। अत: 'अनितरगति:' मेरी कोई

और गति नहीं है। बस आपकी शरण में मैंने अपने को छोड़ दिया है। कुछ टीकाकारों ने शरणागति, प्रपत्ति बताने वाले इस श्लोक को इस स्तोत्र के तात्पर्य का बोधक कहा है। प्रपत्ति ही भक्ति का सार है।।**१५**।।

शरणागति को ही और स्पष्ट करते हैं --

य: स्रष्टारं निखिलजगतां निर्ममे पूर्वमीश-
स्तस्मै वेदानदित सकलान् यश्च साकं पुराणै:।
तं त्वामाद्यं गुरुमहमसावात्मबुद्धिपकाशं
संसारार्त: शरणमधुना पार्वतीशं प्रपद्ये ।।१६।।

सृष्टि-प्रारम्भ में निखिल जगत् के स्रष्आ (ब्रह्मा) को उत्पन्न कर उसे पुराणों सहित सकल वेद जिन्होंने उपदिष्ट किये उन आप आत्मबुद्धिप्रकाश, आदि गुरु, पार्वतीशको संसार से पीडित यह मैं प्रपन्न हो रहा हूँ।

ईश्वर ने सृष्टि से पूर्व सारे संसार को बनाने वाले ब्रह्मा की रचना की,। उसको सारे वेदों का उपदेश दे दिया, सारे पुराण भी दे दिये, 'च'कार से कहा कि सारे आगमों का उपदेश भी कर दिया। ऐसे आप आद्यगुरु हैं। चूँकि आप आद्यगुरु हैं अत: आप ही आत्मबुद्धि का प्रकाश करने वाले हैं अर्थात् आत्मा के यर्थाथ को जानने वाली बुद्धिवृत्ति को प्रकाशित करने वाले हैं। संसार से आर्त

हुआ मैं आपकी शरण आता हूँ। जैसे ही परमात्मा की शरण ले ली काम बन जाता है। परमात्मा ही सबके गुरु हैं। आदिगुरु होने के कारण वे प्राणिमात्र के कल्याण की इच्छा करते हैं। इसीलिये महाभारत में भगवान् ने कहा है कि राक्षस और देवता सभी मेरे लिये एक जैसे हैं क्योंकि सारे प्राणियों का कल्याण मेरा स्वरूप है। यही उनकी शिवता है। यह जो शिव का गुणातीत रूप है, यही वस्तुत: अद्वैत तत्त्व है, इसी का रूप दक्षिणामूर्ति है। कर्म का जो फल होता है वह घोररूप है। जो गुणवाला रूप होगा वह सत्त्व के साथ सत्त्वगुण का, रज के साथ रजोगुण का और तमस् के साथ तमोगुण का व्यवहार करेगा। इसीलिये महिम्न में भी कहा 'प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमो नम:'; भव,हर,मृड -- ये तीन गुणरूप हुये और चौथा निस्त्रैगुण्ये ही शिवरूप है। गुणवालों की अपेक्षा जो गुणातीत है वह अधिष्ठान है जिसे हम परमात्मा, सत्य ज्ञान अनन्त कहते हैं। वेदान्ती सब प्रपंचोंके उपशमरूप की उपासना करता है। सगुण उपासना तब तक जब तक तत्त्व को नहीं समझा, तत्त्व को समझने पर गुणातीत की उपासना कर्तव्य है। निस्त्रैगुण्य तत्त्व दक्षिणामूर्ति में है, वह मोक्ष ही देता है। वही हृदय के अंदर उस परमानन्द को प्राप्त करने की इच्छा को उठाता रहता है; दिनभर में कभी-न-कभी हर व्यक्ति कहता है 'यह प्रपंच समाप्त हो जाये तो शान्ति से बैठूँ', यह

शान्ति की इच्छा कौन उठाता है? शिव ही। ऐसा जो उनका परमगुरु रूप है, उसकी शरण ली जा रही है ।।**१६**।।

केवल मैं ही संसार में इस स्थिति में फँसा नहीं हूँ सब का यही हाल है।

ब्रह्मादीन य: स्मरहर पशून् मोहपाशेन बध्वा
सर्वानेकश्चिदचिदधिक: कारयित्वात्मकृत्यम्।
यश्चैतेषु स्वपदशरणान् विद्यया मोचयित्वा
सान्द्रानन्दं गमयति परं धाम तं त्वां प्रपद्ये।।१७।।

हे कामदहन! सचेतन-अचेतनों से परे जो अद्वितीय रहते हुए ब्रह्मा आदि सब पशुओं को मोहरूप फंदे में बाँधकर अनसे अपने काम कराकर, उनमें से जो अपने चरण की शरण में आये उसे विद्या द्वारा मुक्त कराकर संपूर्ण आनन्दरूप परमधाम जो पहुँचाते हैं ऐसे आपकी मैं प्रपत्ति करता हूँ।

हे स्मरहर! आप एक तथा ज्ञान वालों से एवं अज्ञानवाले महदादि जड पदार्थों से अर्थात् जीव और जगत् अधिक हैं, परे हैं। सब से आप परे हैं क्योंकि आप इन सब पदार्थों के अधिष्ठान हैं। सारे व्यावहारिक जगत् का अधिष्ठान एकमात्र शिव ही है।

चित् व अचित् से परे जो तत्त्व है वह एक है। 'एको रुद्रो न द्वितियाय तस्थु:' - श्रुति कहती है कि परमात्मा एक ही है इसलिये कि उसका कोइ प्रतियोगी नहीं है, वह हमेशा अद्वितीय है। ऐसे आप सब पशुओं को बाँधे रखते हैं। मैं ही नहीं, ब्रह्मादि जितने प्राणी हैं, सारे पशु हैं। क्यों पशु हैं? जाबाल उपनिषद् में बताया है कि जीवों को पशु कहते हैं। घास खाने वाले पशु, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को नहीं जानते, दूसरे उनको जबरदस्ती खेत जोतने आदि में लगा देते हैं, वे सदा दु:ख से भरे रहते हैं, मालिक उन्हें बाँध कर रखता है। ऐसे गाय आदि पशु कहे जाते हैं। इसी प्रकार हम घास की जगह दाल चावल खाते हैं और विवेकहीन हैं। हमेशा दूसरों के नियंत्रण में हैं क्योंकि मन के अंदर काम-क्रोध उत्पन्न होकर हमें प्रवृत्त करते हैं। जीवन में हम प्राय: दु:ख पाते रहते हैं। पशुपति द्वारा हम बँधे रहते ही हैं। इसीलिये प्राणिमात्र पशु है, पशुपति तो एक शिव है। महाभारत में भी कहा है कि जितने भी जन्म-मरण के चक्र में, संसरण में पड़े हुये हैं वे सब पशु हैं। ब्रह्मादि सब पशुओं को आप ही मोहपाश से बाँधे हुये हैं। रात-दिन सब मोहपाश से बँधे हैं इसीलिये रात-दिन 'मैं-मैं, मेरा-मेरा' कहते रहते हैं। जो काम उनसे करवाना है वह आप करवा लेते हैं। वस्तुत: शिव ही हमसे सब कुछ करवा रहा है। इस बात को समझ लें तो काम बन जाये, पर हम इसे समझते नहीं हैं। जो परमात्मा की

शरण ले लेते हैं, निश्चय रखते हैं कि 'वही करवाने वाला है, परमात्मा ने जो संसार का नाटक चलाया है उसमें अलग-अलग भूमिका निभानी होगी; जिसे रावण बनाया, उसे रावणकी भूमिका, जिसे शूर्पणखा बनाया उसे शूर्पणखा की भूमिका करनी पड़ेगी। मेरा अन्त:करण सुखाकार या दु:खाकार जो शिव को बनाना है बनाता चला जाये, मुझे केवल भूमिका निभानी है।' वे मुक्त हो जाते हैं। जय-विजय को सनत्कुमार का शाप मिला ता उन्होंने छूटने का उपाय पूछा, भगवान् ने बताया 'मुझ से द्वेष करोगे तो तीन जन्मों में मुक्ति होगी और मेरी भक्ति करोगे तो सात जन्मों में मुक्ति होगी'! बात उल्टी लगती है। पर विचार करो: परमेश्वर के द्वेषी का अत्यन्त अपयश निश्चित है। सभी शिष्ट जन उनके समय में भी और आज तक भगवान् के द्वेषियों की निंदा ही करते हैं। फिर भी शीघ्र मुक्ति के लिये द्वेष का साधन कौन अपनायेगा? 'दुनिया मेरी निन्दा करे, बुरा कहे, यह सब परमात्मा की कृपा है। -- इस बात को वही समझेगा जिसका परमात्मा के प्रति प्रेम ज्यादा है'। जो यह समझ सके कि 'परमात्मा के खेल में मैं भाग ले रहा हूँ', उसमें परमात्मा की शरणागति ज़्यादा है। बुरा बनने को आदमी जल्दी तैयार नहीं होता है। परमात्मा को तो अच्छे व बुरे सब चाहिये! जब तुम इतनी शरणागति करोगे कि भगवान् के लिये बुरा तक बन

सकते हो, तब तीन जन्मों में कल्याण होगा ही। जो इस तरह भगवान् के शरण हो जाता है उसे वे आत्मज्ञान दे देते हैं जिस विद्या साक्षिभाव में स्थित हो जाता है। सान्द्रानन्द - आनन्दघन जो तुम्हारा स्वरूप है परमधाम अधिष्ठान निरतिशय अधिष्ठानस्वरूप जो तुम्हारा है उसका आप ज्ञान करा देते हैं। ऐसे जो आप, शरण में आये हुओं का कल्याण करते हैं, उन आपकी मैं भी शरण लेता हूँ।।**१७**।।

देवताओं को छोड़ महादेव की ही शरण लेने में हेतु बताते हैं --

भक्ताग्रयाणाम् कथमपि परैर्योऽचिकित्स्याममर्त्यैः
संसाराख्यां शमयति रुजं स्वात्म बोधौषधेन।
तं सर्वाधीश्वर भवमहादीर्घतीव्रामयेन
क्लिष्टोऽहं त्वां वरद शरणं यामि संसारवैद्यम्।।१८।।

हे सर्वनाथ! जिसकी चिकित्सा आपसे अन्य कोई नहीं कर सकता उस उत्तम भक्तों के संसाररूप रोग को आत्मज्ञानरूप दवा द्वारा आप उन्मूलित करते हैं। हे वरद! संसाररूप बड़े लम्बे गम्भीर रोग से क्लेश पाया हुआ मैं आप, संसार-वैद्य, की शरण लेता हूँ।

वेद ने शिव को वैद्य बतलाया है। ऋग्वेद में कहा है कि लौकिक वैद्य दवा देकर एक रोग ठीक करते हैं तो दूसरा आ जाता है। ऐसे वैद्य तो बहुत हैं, पर शिव ही एक ऐसे वैद्य हैं जो दवा दे देते हो तो फिर कोई रोग नहीं रहता है। अत: शिवका ही वरण श्रेष्ठ है। 'सर्वाधीश्वर' - सबके अधिपति और शासक शिव हैं। वैद्य होने के लिये अच्छा सर्वाधीश्वर होना ज़रूरी है! वैद्य ने कहा 'खटाई मत खाना', उसको पता नहीं कि तुम क्या खाते हो कहते हो। अनुपान की या पथ्य की गडबड़ी कर देते हो, समय से भी दवा नहीं लेते हो तो दवा काम नहीं करती। वैद्य यदि सर्वाधीश्वर होवे तो समय पर वही पथ्य खिला देवे; ऐसा वैद्य ठीक इलाज कर सकता है। शिव सबके अंदर बैठे हैं, ज़बरदस्ती काम करवा सकते हैं अत: सकल वैद्य हैं। संसार रोग की चिकित्सा होना असम्भव है पर भिषक्तम अर्थात् सर्वोत्तम भिषक् होने से 'स्वात्मबोधौषधेन' - स्वरूप के ज्ञान से शिव उसे शान्त कर देते हैं। 'परै: अमर्त्यै:' - बाकी देवता इस संसार से मुक्ति नहीं दे सकते हैं, आत्मज्ञान की औषधि तो आप ही दे सकते हैं। 'भवमहादीर्घतीव्रमयेन' - संसार अनादि काल से चल रहा है, इससे बड़ा रोग और क्या होगा! दर्द दो प्रकार के होते हैं --एक तो तीव्र और दूसरा दीर्घ। ज़ोर का पेट दर्द हों, अपैन्डिक्स काट दो तो ठीक हो जाता है पर पेट में

वायु बनती रहती हो तो सदा तीव्र यंत्रणा तो नहीं होती पर दीर्घ रोग है (क्रोनिक है)। संसार रोग दीर्घ भी है, तीव्र भी है। बार- बार जन्म-मरण का कष्ट होता है। बीच में होने वाले कष्ट भी असह्य है। 'क्लिष्टोऽहम्' - इतना क्लेश पाकर मैं विषण्ण हूँ। अत: 'संसारवैद्यम्' संसार रोग के उपचारक के रूप में प्रसिद्ध वैद्य आपकी शरण जाता हूँ। आप 'वरद' हैं वर प्रदाता हैं, अत: आपकी शरण जाता हूँ। भव मायने संसार भी और शिव भी, अत: 'भव' - यह सम्बोधन भी हो जाता है। यह संसार घोर है, इसको नष्ट करने के लिये भगवान् शंकर के अघोररूप दक्षिणामूर्ति की शरण लेनी चाहिये। जो संसार में जन्म-मरण से कातर हो गये हैं उनके लिये भगवान् शंकर की शरण ही उपाय है। आचार्य शंकर ने भी कहा है 'जननमृतियुतानां सेवया देवतानां न भवति सुखलेश: संशयो नास्ति तत्र' अर्थात् जो स्वयं जन्म-मरण के चक्कर में पड़े हैं ऐसे देवताओं की शरण लेने से संसार चक्र कटता नहीं। जो जन्म-मरण से सदा रक्षित हैं ऐसे भगवान् शंकर का भजन करने से परम-सुख की प्राप्ति होती है। इसलिये दीक्षितजी ने कहा -- दूसरों की शरण न लेकर आपकी शरण आता हूँ क्योंकि आत्मज्ञानरूप दवा आपके ही पास है, यही आपकी विशेषता है।।**१८**।।

शिव की ज्ञानोपदेशकता का ही पुन: वर्णन करते हैं --

ध्यातो यत्नाद् विजितकरणैर्योगिभिर्यो विमृग्य:
तेभ्य: प्राणोत्क्रमणसमये संनिधायात्मनैव।
तद् व्याचष्टे भवभयहरं तारकं ब्रह्म देव:
ते सेवेऽहं गिरिश सततं ब्रह्मविद्यागुरुं त्वां।।१९।।

हे गिरिश! जिन्होंने अपनी बाहरी-भीतरी इन्द्रियों पर विजय पा ली है उन योगियों द्वारा यत्नपूर्वक आप ध्याये और ढूँढे जाते हैं तथा उनके प्राण निकलते समय आप अपने ही स्वरूप से अनके सम्मुख होकर उन्हें उस तारक ब्रह्म का उपदेश देते हैं जो संसार का डर मिटा डालता है। ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक उन आप महादेव का मैं निरंतर भजन करता हूँ।

'ब्रह्मविद्यागुरुं त्वां सेवे' - परमात्मज्ञान देने वाली जो आपकी गुरुमूर्ति का भजन करता हूँ। 'गिरिश' - वेदवाणी में प्रतिपाद्य रूप से स्थित। जिन्होंने स्वभाव से बहिर्मुख इन्द्रियों को जीतकर अन्तर्मुख बना लिया है ऐसे योगी ब्रह्मविद्या के गुरु को ढूँढते हैं। ऐसा गुरु मिलने पर यत्नपूर्वक उनका ही ध्यान करते हैं अर्थात् अन्य सब वृत्तियों को हटाकर मन उस गुरुमूर्ति पर एकाग्र करते हैं।

यत्न से ध्यान करने वालों के 'प्राणोत्क्रमण-समये'- प्राण के उत्क्रमण के समय भगवान अपने स्वरूप से उनके पास जाकर 'भवभयहरं तारकं-ब्रह्म-याचष्टे' - उन्हें उस ब्रह्म का उपदेश देते हैं जो संसार-सागर से तार देता है, संसार का भय मिटा देता है। तारक ब्रह्म का तत्त्वमस्यादि वाक्य से उपदेश कर वे पशुओं को भव के दु:ख से छुड़ा देते हैं। तत्त्वमसि का लक्षार्थ ही तारक ब्रह्म है। ब्रह्माकारवृत्ति वाला ब्रह्म तारक है। घटाकार वृत्ति में दीखा घट जैसे वस्तुत: घट ही है वैसे ब्रह्ममाकारवृत्ति में दीखा ब्रह्म सचमुच ही ब्रह्म है। इसीलिये कहा 'आत्मनैव संनिधाय' उस ब्रह्म को वे साक्षात् बतला देते हैं। यदि साधकों ने इस दक्षिणामूर्ति का पूर्णरूप से ध्यान नहीं किया है तो वे ब्रह्मलोक भोगकर वापस आ जाते हैं जबकि यदि ब्रह्मविद्यारूप गुरु का ध्यान किया है तो वहाँ ब्रह्माकार वृत्ति में भगवान् शंकर दर्शन देते हैं। जैसे लाल गरम गोले में जल की बूँद का पता नहीं चलता है वैस ही द्वादशान्त के अंदर प्राणों के उत्क्रमण के समय में भगवान् दक्षिणामूर्ति दर्शन देते हैं तो बंधन का कहीं पता नहीं रह जाता है। जिसने जीवनकाल में यत्न किया है उसी के लिये यह सम्भव है, अन्यथा मरणकाल के दु:ख में कहाँ शिव का ध्यान होगा! जो आजन्म यह अभ्यास कर सकेंगे, प्राणोत्क्रमण के समय भगवान् दर्शन दे उनका कल्याण कर देंगे। जो ऐसा न कर अत्यन्त पाप करने वाले हैं वे भी यदि काशी में मरते हैं तो प्राण निकलते

समय भगवान् उन्हें उपदेश देकर मुक्त कर ही देते हैं। जो श्रद्धापूर्वक निष्काम ध्यान से विशुद्ध होवे उसकी सर्वत्र मुक्ति है। जिनसे यह सम्भव न हो वे शिव-स्थान में निवास करें।। **१९**।।

अप्पय दीक्षित इच्छा करने पर भी केवल एक बार ही काशी जा सके, वहाँ हमेशा के लिये रह नहीं सके अत: कहते हैं कि यह भी मुझ से हो नहीं सकता है, पर मैं आपका दास हूँ --

दासोऽस्मीति त्वयि शिव मया नित्यसिद्धं निवेद्यं
जानास्येतत् त्वमपि यदहं निर्गति: संभ्रमामि।
नास्त्येवान्यन्मम किमपि ते नाथ विज्ञापनीयं
कारुण्यान्मे शरणवरणं दीनवृत्तेर्गृहाण ।। २०।।

हे शिव! 'मैं आपका दास हूँ' यह आपको ज्ञात हमेशा निश्चित तथ्य है, क्या यह भी आपको बताना पड़ेगा? यह भी आपको मालूम है कि मेरा अभी तक कोई निश्चित गंतव्य स्थिर नहीं हुआ है, मैं यों ही भटक रहा हूँ। हे नाथ! आपसे और कुछ नहीं कहना है; मैं दीनवृत्ति वाला हूँ, आपको मैंने अपनी शरण चुना है, आप तो करुणाकर केवल मेरा यह वरण स्वीकार कीजिये।

हे शिव! मैं सदा से आपका दास हूँ। आप पशुपति हैं अत: पाशों से आपने मुझे बाँध रखा है। माया ही पाश है जिससे जीवरूप पशु अनादिकाल से बन्धन में है। अत: जब से मैं (जीव) हूँ तब से आप ही मेरे पति हैं, मैं आपका दास ही हूँ। आपका-मेरा यह सम्बन्ध अनादि-सिद्ध है। इस वस्तुस्थिति के अलावा मैं आपको बताऊँ ऐसा और क्या हो सकता है! मुझे यह सांसारिक अभिमानों के झंझावात में भले ही भूल जाये पर आप सर्वज्ञ हैं, आप स्वयं इसे जानते हैं, भूल नहीं सकते। किसी मालिक का कोई जानवर यदि खो जाये तो वह मालिक पूरी कोशिश कर उसे ढूँढता है, उसकी भोजनादि व्यवस्था करता है। मैं तो न जाने कब से इस गहन भवाटवी में भटक रहा हूँ! मेरी कोई गति नहीं है। यों ही गोल-गोल चक्कर काट रहा हूँ। आप जैसे सर्वज्ञ सर्वशक्ति मालिक के रहते आपके इस दास की ऐसी दुर्गति हो यह आपके लिये भी शोभा की बात नहीं है। आप मेरी यह दशा जान भी रहे हैं फिर रक्षा क्यों नहीं करते? मैं 'दीनवृत्ति' हूँ, दीनता का बर्ताव करने वाला हूँ। जैसे दीन सदा सबसे धन-याचना करता रहता है - मुँह से न करे तो भी मन से करता रहता है -- वैसे मैं सदा सबसे सुख माँगता रहता हूँ। पत्नी, पुत्र, धन, जायदाद आदि की ओर इसी आशा से जाता हूँ कि कुछ सुख मिलेगा, विभिन्न देवी-देवताओं की भी शरण इसी आशा से लेता रहता हूँ; यों मेरा हर व्यवहार मेरी दीनता

से प्रेरित है। पर कहीं भी स्थायी सुख न मिलने से मैं तड़पता ही रहता हूँ अत: आपको मुझपर करुणा आनी चाहिये, उसी से आप मेरा शरणवरण ग्रहण कर सकेंगे। मैं तो आपको अपना शरण, रक्षक बना रहा हूँ, पर जब तक आप इसे स्वीकारें नहीं तब तक क्या लाभ! आप कृपाकर स्वीकार लें कि आप मेरे रक्षक हैं, तभी मुझे संतोष होगा।। **२०**।।

ब्रह्मोपेन्द्रप्रभृतिभिरमि स्वेप्सितप्रार्थनाय
स्वामिन्नग्रे चिरमवसरस्तोषयद्भि: प्रतीक्ष्य:।
द्रागेव त्वां यदिह शरणं प्रार्थये कीटकल्प:-
तद्विश्वाधीश्वर तव कृपामेव विश्वस्य दीने।। २१।।

हे स्वामी! ब्रह्मा, विष्णु आदि जो आप को सन्तुष्ट करते रहते हैं, उन्हें भी अपने इच्छित लाभ की याचना के लिये आपके संमुख आना हो तो लम्बे समय तक मौके की इन्तज़ार करनी पड़ती है। फिर भी कीड़े जैसा मैं आपकी दीनों पर कृपा पर विश्वास करके ही यह प्रार्थना कर रहा हूँ कि अतिशीघ्र ही आप मेरे शरण (रक्षक) बन जाइये। हे विश्व के अधिपति! (आपके लिये ही यह संभव है कि मुझ जैसे की भी विनती सुनकर प्राथमिकता से मेरी आशा पूरी कर दें)।

हे विश्व के अधीश्वर! आप सारे संसार के स्वतन्त्र मालिक हैं। ब्रह्मा, उपेन्द्र अर्थात् विष्णु तथा अन्य सभी उत्तमोत्तम देवता एवं यक्ष, राक्षस, पन्नग, पिशाच आदि समस्त प्राणी आप से ही अपनी कामनाये पूरी कराते हैं, आपसे ही माँगते हैं व आप उन्हें देते भी हैं। अधीश्वरता तभी रहती है जब अधीश्वर से आवश्यकताएँ पूरी हों। जो कुछ दे नहीं सकता उसका शासन,निर्बाध नहीं चल सकता। केवल ईश्वर तो हिसाब के मुताबिक देगा, अधि-ईश्वर पर वह रुकावट नहीं, वह मुक्तहस्त दे सकता है, देता ही है। सबकी इच्छायें परमेश्वर से पूरी होने पर भी ब्रह्मा-विष्णु आदि की महत्ता है कि वे सर्वदा परमेश्वर के ही संतोष के लिये कार्यरत रहते हैं। ऐसे ब्रह्मा आदि को भी यदि कभी कोई अपने लिये कामना हो जाये तो उसे पूरी करने के लिये कामना हो जाये तो उसे पूरी करने के लिये निवेदन करने का मौका उन्हें भी लम्बी इन्तज़ार के बाद ही मिलता है। यद्यपि वे भगवान् के अतिनिकट हैं तथापि समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि के कार्य को कभी प्राथमिकता नहीं देते अत: ऐसे अवसर तक रुकते हैं जब व्यष्टि की ओर एकाग्र होना समष्टि के कार्य में बाधक न हो। पुराण में इसी से देवताओं की भी दीर्घ तपस्या का वर्णन है जिसके बाद ही परमेश्वर उनकी कामना पूरी करते हैं। ब्रह्मादि की तुलना मे हम लोग कीड़े जैसे हैं! अत: अप्पय दीक्षित ने 'कटिकल्प:' कहा। प्राय: मनुष्य तो कीट से भी गये बीते हैं क्योंकि कीट तो

कम-से-कम अपनी योनि की सीमा में रहता है जबकि मनुष्य ऐसी कामनाएँ व चेष्टाएँ करता रहता है जो उसके सर्वथा अयोग्य हैं। ऐसे मेरी प्रार्थना आप तत्काल सुन ले इसकी कोई संभावना नहीं फिर भी मैं जो यह कह रहा हूँ कि शीघ्र ही आप मेरे रक्षक बन जाइये, इस उतावली का हेतु है कि मुझे विश्वास है कि दीन पर आप करुणा करते ही हैं। मैं प्रार्थना से अन्य कुछ करने में समर्थ नहीं, दीन हूँ, अत: मेरा विश्वास मत तोड़िये, कृपाकर मेरी प्रार्थना तुरंत सुन लीजिये।। **२१**।।

कर्मज्ञानप्रचयमखिलं दुष्करं नाथ पश्यन्
पापासक्तं हृदयमपि चापारयन् संनिरोद्धुम्।
संसाराख्ये पुरहर महत्यन्धकूपे विषीदन्
हस्तालम्बप्रपतनमिदं प्राप्य ते निर्भयोस्मि ।। २२।।

हे नाथ! हे कामदहन! यह समझते हुए कि कर्म व ज्ञान का सारा आधिक्य मुझसे नहीं होने वाला, पाप में आसक्त अपने हृदय का सही निरोध भी न कर सकता हुआ संसार नामक महान् अँधरे कुए में विषदग्रस्त हो रहा मैं आपके उस हाथ का सहारा पाकर निडर हो गया हूँ जो आपने मेरे उद्धार के लिये ही लटकाया है।

हे नाथ! आपकी कृपा को प्राप्त करने योग्य न मैं कर्म कर सकता हूँ, न मुझ से ज्ञान हो सकता है।

ज्ञानाभ्यास, कर्म, ध्यान ज्ञान -- ये सारा का सारा मुझे अत्यन्त दुष्कर लगता है। इतना ही नहीं कि मैं ये नहीं कर सकता हूँ, मेरा हृदय पाप में आसक्त रहता है। पाप में असाक्त होने से हृदय अन्तर्मुख कर रोकने में, हृदय का निरोध करने में भी मैं समर्थ नहीं हूँ। संसार नाम का यह अन्धकूप है। जिस कूए में पानी न हो वह अंधकूप कहा जाता है। इस संसार में लगता है कि कहीं सुख होगा, पर इसमें सुख है नहीं। यह महान् अन्धकूप है, इसके अंदर पड़ा मैं 'विषीदन्' - अत्यन्त दु:ख महसूस कर रहा हूँ। पड़ा हुआ सोच रहा हूँ 'किसको पता कि मैं यहाँ पड़ा हुआ हूँ! पता भी लगे तो मेरा कौन उद्धार करेगा'? अत: अत्यन्त दु:ख में हूँ। इस प्रकार की प्रार्थना सुन भगवान् शंकर का हृदय पिघल गया, उन्होंने अपना हाथ पकड़ा दिया, आपने अपने हाथ का आलम्बन, सहारा दे दिया। प्रपतन -- जैसे पानी निकालने को डोरी डाल देते हैं ऐसे आपने अपना हाथ मुझ तक लटका दिया है, आपके हाथ को मैंन पकड़ लिया है, इस हाथ को प्राप्त कर मैं निर्भय हो गया हूँ। आप बिम्ब हैं, मैं आपका प्रतिबिम्ब हूँ, आपका सच्चिदानन्द रूप मुझ में आया है, इसी के सहारे मैं आप तक पहुँचूँगा। मैं की चेतनता से ही पता चलता है कि यह चिद्रूप परमेश्वर का प्रतिबिम्ब है और इसी से निर्णय होता है कि वास्तव में वह शिव ही है।

सत् चित् -- ये परमात्मा का रूप हैं। इनका मैं में प्रतीत होना ही परमात्मा का हाथ पकडना है। कूए में डूबता व्यक्ति बाहर स्थित सज्जन का हाथ पकड़कर कुए से जैसे बाहर आ जाता है वैसे परमेश्वर के सत्-चिद् रूप का ही सहारा लेने से जीव संसार-कूप से बाहर साक्षी रूप में आ जाता है। तब अन्त:करण को सुख-दु:ख होवें तो भी मैं साक्षी सुख-दु:ख वाला नहीं होता। डूबता व्यक्ति बाहर स्थित पुरुष का हाथ थामते ही निर्भय हो जाता है, इसी प्रकार तीव्र वेदना से प्रार्थना करने पर शिव साक्षात् हृदय में प्रकट हो जाते हैं तो इतने से ही निर्भयता आ जाती है।।**२२**।।

ऐसा होने पर भी मनुष्य को सर्वथा तूष्णींभाव को प्राप्त नहीं करना चाहिये! परमात्मा का आकस्मिक अनुभव हर-एक साधक को होता है जब वह तीव्र वेदना के अंदर प्रार्थना करता है। पर फिर वह संसार के व्यवहार में उसे भूल जाता है। 'परमात्मा ने मेरी रक्षा की है' इस भाव की दृढता के लिये वृत्ति बनाये रखनी चाहिये, संश्रयण करना चाहिये यह बताते हैं --

त्वामेवैकं हतजनिपथे पान्थमस्मिन् प्रपंचे
मत्वा जन्मप्रलयजलधेर्बिभ्यत: पारशून्यात्।

यत्ते धन्या: सुरवरमुखं दक्षिणं संश्रयन्ति
क्लिष्टं घोरे चिरमिह भवे तेन मां पाहि
नित्यम्।।२३।।

हे सुरवर! इस क्लेशयुक्त जन्ममार्ग वाले प्रपंच में एक आपके ही साथ चलनेवाला सहायक मानकर अपार जन्म-मरणरूप सागर से डरे हुए धन्य लोग आपके जिस दक्षिणमुख का सहारा लेते हैं, यहाँ घोर संसार में चिरकाल से क्लेश पाये हुए मुझे उसी मुख से बचाइये।

हे सुरवर! सारे देवताओं के द्वारा वरण करने योग्य। इन्द्रियों को भी देवता कहते हैं। आत्मा के ज्ञान का प्रभाव बताते हुये कहा है कि जो आत्मज्ञानी होता है, सारे देवता उसके लिये भेंट लेकर जाते हैं। आँखें रूप लेकर, कान शब्द लेकर आत्मा को ही समर्पण करते हैं। सबका समापन ज्ञान में होता है तथा ज्ञान आत्मा ही है। सब देवता भेंट लेकर महादेव के पास जाते हैं। 'हतजनिपथे' - जन्म का मार्ग कैसा है? उसमें दु:ख ही दु:ख है, मरना ही मरना है। जो सारा प्रपंच दीख रहा है यह जनिपथ है, अत्यन्त निन्दनीय है। 'त्वामेवैम्कं पान्थं' -- इसके अंदर खाली एक आप ही पान्थ हैं। पान्थ मायने जो रास्ते में सहायता करे। इस संसार-समुद्र के रास्ते में केवल आप ही रक्षा करने वाले हैं, मार्गबन्धु हैं, सहायक हैं। परमात्मा जीव के साथ बैठा

हुआ है। शुभकर्म का फल भोगने को जँहा हृदय-गुहा में जीव बैठा है वैसे ही वहीं फल भोग कराने को आनन्दमय कोष में परमात्मा बैठा हुआ है । अत: जीव जहाँ भी जाये स्वर्ग या नरक वहाँ परमात्मा साथ रहता है।

कैसे बैठा है? -- इसे समझ लेना: राहु को स्वतन्त्ररूप से कभी भी देखा नहीं जाता है, ग्रहण लगने पर सूर्य या चन्द्र के ऊपर दीखता है। राहु को अलग से नहीं देख सकते, ग्रहण के समय सूर्य के सामने दीख जाता है। इसी प्रकार जिस कर्म का फल अभी भोग रहे हैं वह कर्म तो नहीं दीखता है पर उसे भुगवाने वाला परमात्मा है यह समझ आ जाता है। घोर अमावस की रात हो, वर्षा कीचड़ हो, उसके अंदर भी यमराज प्राण हरणे को पहुँचता है किस के डर से? यद्यपि परमात्मा सामने नहीं दीखता पर कर्मफल के भोगकाल में भुगवाने वाले के रूप में वह दीखता अर्थात् समझ आता है। जब तीव्र दु:ख होता है तब भी प्रत्यक्ष-सा में लगता है कि कोई भुगवा रहा है। आँखों से परमात्मा नहीं दीखता यह ठीक है, पर प्रत्यक्ष लगता है कि परमात्मा ही कर्मफल के कारण यह तीव्र दु:ख भुगवा रहा है। मार्गबन्धु शिव हमेशा कर्मफल भुगवानेवाले के रूप में जीव के साथ रहते हैं।

जन्म-मरण रूपी संसार समुद्र 'पारशून्यात्' - का कोई पार नही है अत: मुझे बड़ा भय लगता है। 'ते धन्या' - सनक सनकादि जिन लोगों ने आपके दक्षिणामूर्ति मुख का सहारा लिया वे धन्य हैं; जो आपके अघोरमुख, दक्षिणमुख का संश्रयण करते हैं, वे धन्य हैं। बाकी संसार में जो कुछ भी है वह जन्म-मरण, भूख-प्यास, शोक-मोह इन छह उर्मियों से ग्रस्त है। एकमात्र परमात्मा ही इन सब से रहित है अत: अजात है। संसार-समुद्र में पड़ा मैं उससे डरता हूँ, डरनेवाला मैं हूँ। जो-जो चीज़ विरोध करने वाली होती है वह घोर होती है। परमात्मा ही ऐसा है जिसका कोई प्रतियोगी नहीं, अत: वह अद्वैत है; इसीलिये वह कैवल्य देने में अत्यन्त चतुर है। इसीलिये शिव को दक्षिणामुख भी कहते हैं। दक्षिणा अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति ही ब्रह्म को ग्रहण करने वाला मुख है। हे रुद्र! दक्षिणा मुख द्वारा मेरी ऐसी रक्षा करें कि ब्रह्मरूपता में मैं स्थित रहूँ। इस प्रकार के कैवल्यमोक्ष को धन्य लोग ही जानते हैं। कैवल्य मुक्ति पाये सनक सनन्दन आदि भी आपकी दक्षिणामूर्ति का संश्रयण करते हैं, उसके दर्शनादि से दिव्य आनन्द को लेने के लिये वे संश्रयण किये हुये हैं। अन्य साधकों को प्रेरणा देने के लिये भी वे ऐसा करते हैं। क्योंकि आपकी वह मूर्ति इति कृपालु है जैसे कैवल्य मुक्ति होने पर भी उन्होंने गुरुमूर्ति के दर्शन आदि का त्याग नहीं किया वैसे ही मैं भी आपके हाथ का आलम्बन

प्राप्त कर आपका हाथ न छोड़ूँगा आपकी तरफ ही वृत्ति लगाये रखूँगा। अप्पय भारद्वाज गोत्र में उत्पन्न हुये थे। भारद्वाज ऋषि ने दक्षिणामूर्ति की उपासना की थी। अत: सूचित करते हैं कि हमारे पूर्वज़ों ने भी आपकी उपासना की थी अत: आपका अवलम्बन कर मैं भी अपने पूर्वज़ों के आचार का पालन कर आपकी उपासना करता रहूँगा।। **२३**।।

एकोसि त्वं शिव जनिमतामीश्वरो बन्धमुक्त्यो:
क्लेशांगारावलिषु लुठत: का गतिस्त्वां विना मे।
तस्मादस्मिन्निह पशुपते घोरजन्मप्रवाहे
खिन्नं दैन्याकरमतिभयं मां भजस्व प्रपन्नम्।। २४।।

हे शिव! जन्म-मृत्यु वाले सभी के बन्ध-मोक्ष के कर्ता एक आप ही हैं। क्लेशों के अंगारों की पंक्तियों पर लोटते हुए मेरी आपसे अन्य कौन गति होगी? हे पशुपते! अत: इस घोर जन्म-प्रवाह में खेदग्रस्त और दीनता की निधिरूप अति भयभीत मुझ शरणागत को आप शीघ्र बचा लीजिये।

'जनिमताम्' - जो जन्म वाले लोग हैं उनके बन्धन व मोक्ष दोनों के आप ही एकमात्र ईश्वर हैं। सृष्टि, स्थिति, लय, तिरोधान व अनुग्रह, ये पाँच ईश्वर के काम हैं। अन्य सब कार्य ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र कर लेते हैं

पर आत्मा का तिरोधान अर्थात् आवरण, ढ़ाँकना और अनुग्रह अर्थात् स्वरूप को प्रकट कर देना ये साक्षात् परमात्मा ही करते हैं, ये दूसरों से नहीं होते हैं। क्योंकि अविद्या का आश्रय शुद्ध चेतन है अत: उसकी निवृत्ति करने वाला भी शुद्ध चेतन है, इसके अंदर कोई गुण काम नहीं करेगा। अज्ञान होने के बाद अज्ञान में तीन गुण होते हैं। विक्षेप से आवरण हो गया तो तीनों गुण काम करने लग जायेंगे सुख, दुख और मोह ये उनके आवरण का स्वरूप हुआ। पहले स्वरूप का आवरण होगा तब विक्षेप संभव है, पहले रस्सी नहीं दीखेगी, तब ही सर्प दीखेगा। ब्रह्मज्ञान किसी गुण का कार्य नहीं है क्योंकि उसमें सुख, दुख या मोहरूपता नहीं है। आवरण व अनुग्रह तो साक्षात् परमात्मा से होते हैं। बन्धन व मुक्ति, दोनों में कारण परमात्मा है। बन्धन व मुक्ति के आप ही एकमात्र ईश्वर है इसीलिये श्रुति ने स्पष्ट कहा है कि बाकी ईश्वरों की अपेक्षा आप ही परम महेश्वर हैं। 'क्लेशांगारावलिषु' - क्लेशरूपी जो अँगारे हैं उनके अवलियें अर्थात् पंक्तियाँ बिछी हुई हैं जिन पर जीव लगातार लोट रहा है, हर ओर से उनका ताप सह रहा है। विद्यारण्य स्वामी ने कहा है कि चार प्रकार के क्लेश हैं -- पहला, परमात्मा का ज्ञान न होना अर्थात् आवरण। दूसरा, मल - 'मैं परिच्छिन्न हूँ' यह भ्रम मल हमारी ज्ञान की व क्रिया की शक्ति को ढाँके हुये है। मैं सर्वज्ञ होते हुये भी मेरी ज्ञान-शक्ति मल-दोष से काम नहीं करती है।

मैं नहीं जानता कि मैं ब्रह्म हूँ। इस अज्ञान से ही ज्ञान-क्रिया-शक्ति ढकी हुई है। तीसरा क्लेश है राग-द्वेष उत्पन्न करने वाली माया। चौथा क्लेश है कर्म, कामना से ही हम पुण्य व पाप कर्म करते रहते हैं। ये चारों क्लेशांगार हुये। बंधन मुक्ति के आप ईश्वर हैं, मैं इन चार कष्टों में बराबर लुढ़कता जा रहा हूँ। मैं बहुत कुछ करना चाहता हूँ पर कर नहीं सकता, मैं जानना चाहता हूँ उसे जान नहीं सकता अत: ये अंगारे हैं। आपके सिवाय मेरी रक्षा करने वाला कोई नहीं है। इसलिये मेरा घोर जन्म प्रवाह चल रहा है । इस उत्तम मनुष्य जन्म को प्राप्त कर भी निरन्तर दु:ख का अनुभव करता हूँ। मेरा रूप ही दीनता का हो गया है। इन चारों क्लेशों के कारण हर जगह दीनता ही दीनता करनी पड़ती है, अत्यन्त दीन बना हुआ हूँ। हमेशा ही भीतियुक्त बना रहता हूँ कि कल क्या होगा? कहाँ तो वेदान्त केसरी बनना था, पर अति खिन्न, दीन, भय वाला बना हूँ! अब मैं आपकी शरण में आया हूँ अत: आप ही मुझे मुक्त करें।।**२४**।।

रक्षा का क्या रूप है यह स्पष्ट करते हैं --

यो देवानां प्रथममशुभद्रावको भक्तिभाजां
पूर्वं विश्वाधिक शतधृतिं जायमानं महर्षि:।
दृष्ट्यापश्यत् सकलजगतीसृष्टिसामर्थ्यदात्र्या
स त्वं ग्रन्थिप्रविलयकृते विद्यया योजयाँस्मान्।। २५।।

हे विश्वोत्तम! जो आप महान् ऋषि भक्तों के दु:खों को नष्ट करते हैं, तथा जिन आपने देवों में पहले-पहले उत्पन्न होते ब्रह्मा को सारे जगत् की सृष्टि की सामर्थ्य देने वाली दृष्टि से देखा वे आप गाँठ के प्रविलय के लिये हमें विद्या से सम्पन्न कर दीजिये।

विश्वाधिक -- सारे विश्व से आप अतीत हैं। आप महर्षि हो ऋ धातु का अर्थ ज्ञान होता है। जो जाने वह ऋषि, महर्षि वह जो सब कुछ जाने। परमात्मा ही सर्वज्ञ सर्वविद् है। 'भक्तिभाजां देवानाम्' - जो आप के भक्त हैं ऐसे देवताओं के 'प्रथमम्' - आप प्रारंभ में ही संकल्पमात्र से उनके 'अशुभद्रावक:' दु:खों को नष्ट कर देते हैं। परमात्मा अपने भक्तों के सारे दु:खों को नष्ट कर देते हैं। किंच, सब देवताओं के पूर्व अर्थात् पहले 'शतधृतिं जायमानं' - ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए। सौ वर्षों तक जो एक जैसे बने रहते हैं वे ब्रह्माजी [शतधृति] हर कल्प में सारे देवताओं के पहले उत्पन्न हुए। आप उन्हें पैदा होते देखते हैं। आपके देखने से, आपकी दृष्टि की जो दीक्षा होती है उससे उनके अंदर सारे जगत् की सृष्टि करने की सामर्थ्य आ जाती है! परमात्मा पहले ही संकल्पमात्र से ब्रह्मा को बनाता है, फिर वह सारी सृष्टि बना सके ऐसी शक्ति देने वाली दृष्टि से उसे देखता है। सारे जगत् की सृष्टि गुरुकार्य है, इसलिये दीक्षा के

निमित्त आप उसका अवलोकन करते हैं। दीक्षा शब्द का अर्थ होता है --गुरु की दृष्टि द्वारा ही शिष्य के हृदय में आत्मज्ञान दीप्त होना और शिष्य का अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाना। शिष्य को गुरु इस बुद्धि से देखता है कि यह साक्षात् अपरोक्ष तत्त्व है। गुरु की दृष्टि से यह ज्ञान शिष्य को होता है। अन्त:करण में तत्त्व का ध्यान करके जब तत्त्वज्ञान की वृत्ति शिष्य की आँख में प्रवेश करेगी तब शिष्य का पशु-भाव नष्ट हो जायेगा । यह चाक्षुषी दीक्षा है। ब्रह्माजी को भगवान् शंकर ने उस दृष्टि से देखा तो ब्रह्माजी को ज्ञान हो गया। इस प्रकार आप ब्रह्मा जी के भी गुरु हैं। जो चाक्षुषी दीक्षा के अधिकारी नहीं होते हैं उनके लिये शास्त्रों में दूसरी दीक्षाओं का विधान किया है।

'स त्वं ग्रन्थिप्रविलयकृते' -- मेरे हृदय की जो चित्-ज़ड-ग्रन्थि है वह नष्ट हो जाये, इसके लिये मुझे आप उस दृष्टि से देखिये जिसके प्रभाव से मैं अपने को शरीर-मन से अलग समझकर वास्तविकरूप में स्थित हो जाऊँ, अपने को शरीर-संघात से अलग कर ब्रह्मभाव में स्थिर हो जाऊँ।

शंका होती है कि यदि इस प्रकार सारे अशुभों को नष्ट करने वाले शंकर हैं तो सृष्टि के अन्त में तमोगुण का सहारा ले संहार का कठोर कर्म क्यों करते हैं?

समाधान है कि वहाँ भी कारण करुणा है। शिवपुराण में कहा है: किसी के गले में फोड़ा हो गया हो, न वह खा पाता हो न सो पाता हो रात भर तड़पता हो; वैद्य रोग का निदान कर उसको सुखी करने के लिये अत्यन्त तीखा हथियार ले उस फोड़े को चीरकर पीप व कीड़ों को दबा-दबा कर निकालता है फिर दवा लगा देता है, थोडी देर में रोगी को दर्द कम हो जाता है, सुख से सो जाता है उठकर भोजन भी माँगता है! वैद्य ने की तो हिंसा ही, पर इसमें उसकी निष्ठुरता नहीं है, दया ही है। या गरमी के मौसम में बच्चा सुबह से बाहर खेल रहा है; दस बजे बालू गरम हो जाती है; वह घर नहीं आता तो माँ थप्पड़ मार कर अंदर लाकर नहला-धुलाकर, दूध पिलाकर सुला देती है। थप्पड मारने में उसकी निष्ठुरता नहीं है। इसी प्रकारसंसार में गमनागमन से सृष्टिकाल में लोग थक जाते हैं, उस थकावट को मिटाने को 'ये सुख से सो सकें' यह सोच भगवान् शंकर तमोगुण से संहार कर दीर्घकाल तक सुला देते हैं। शास्त्रकारों ने कहा है कि भगवान् शंकर प्रलयकाल में जा महासंहार करते हैं वह भवसागर में थके लोगों को विश्राम देने के लिये ही करते है। जो विच्छिन्नपाश हो गये हैं उनको मुक्तिसुख भी वे ही देते हैं। इस प्रकार भगवान् शंकर मुमुक्षुओं को मुक्ति व भोगार्थियों को भोग दे देते हैं। जो उनको कभी प्रणाम नहीं करते हैं उन्हें कभी सुख नहीं मिल सकता है।। **२५**।।

यद्याकाशं शुभद मनुजाश्चर्मवद्वेष्टयेयु
र्दु:खस्यान्तं तदपि पुरुषं त्वामविज्ञाय नैति।
विज्ञानं च त्वयि शिव ऋते त्वत्प्रसादान्न लभ्यं
तद्दु:खार्त्त: कमिह शरणं यामि देवं त्वदन्यं ।। **२६**।।

हे शुभदाता! लोग अगर आकाश को चमड़े की तरह लपेट लें तो भी पूर्णतत्त्वरूप आपके अनुभव के बिना दु:ख का अंत नहीं आता। हे शिव! आपके बारे में सही अनुभव भी आपकी कृपा के बिना पाया नहीं जा सकता। अत: संसार में दु:ख से पीडित मैं आपसे अन्य किस देवता की शरण जाऊँ?

हे शुभद! सारे शुभों को देने वाले! यदि आकाश को मनुष्य मृगचर्म की तरह कमर में लपेट लेवें तो भी आपके दर्शन के बिना मोक्ष नहीं हो सकता। आकाश को इस तरह लपेटना असम्भव है क्यों कि आकाश अदृश्य है, निरवयव है, फिर भी यदि मान लें कि कोई आकाश को इस तरह लपेट भी लेवे, तो भी कोई मनुष्य ऐसा नहीं हो सकता जो परमात्मा के साक्षात्कार के बिना दु:ख से निवृत्त हो सके। आपको जाने बिना कोई भी पुरुष दु:ख से निवृत्त नहीं हो सकता है। दु:ख का अन्त अज्ञानपाश की निवृत्ति है। 'पुरुष:' की जगह टीकाकार का 'पुरुषं' पाठ है; तब अर्थ है कि पुरुष अर्थात् शरीररूप पुर

में रहने वाले को, जो सभी पुरों में रहता है उस बृहत् चेतन को जाने बिना अर्थात् जीव.ईश्वर के अभेद के अनुभव के बिना दु:खों का अन्त नहीं आता। 'विज्ञानं च त्वयि' -- आपका ज्ञान भी आपकी कृपा के बिना हो नहीं सकता है। चूँकि ऐसा है इसलिये मैं, जो संसारदु:ख से आर्त हो रहा हूँ, आप से अन्य किस देवता की शरण में जाऊँ! तात्पर्य है कि दु:ख मिटाने का शिव की शरण लेने के सिवाय कोई उपाय नहीं है।।**२६**।।

कोई कहे कि बहुत-से शास्त्र हैं, उनका अध्ययन करो तो ज्ञान हो जायेगा; तो जवाब देते हैं कि शास्त्रों से केवल ज्ञान होगा, मोक्षप्रद विद्या तो आपकी कृपा से ही होगी --

किं गूढार्थैरकृतकवचोगुम्फनै: किं पुराणै
स्तन्त्राद्यैर्वा पुरुषमतिभिर्दुर्निरूप्यैकमत्यै:।
किं वा शास्त्रैरफलकलहोल्लासमात्रप्रधानै
र्विद्या विद्येश्वर कृतधियां केवलं त्वत्प्रसादात्।। २७।।

हे विद्याओं के स्वामी! गंभीर अर्थों वाले अनादि वचनों की योजनाओं से क्या लाभ? पुरुषों की मति से जिनकी एकमतता का निरूपण दुष्कर है ऐसे पुराणों, तन्त्रों व ऐसे अन्य शास्त्रों से भी क्या प्रयोजन? निष्फल कलह को ही मानो प्रधानत: उकसाने वाले शास्त्रों से भी

क्या इष्ट सिद्ध होगा? जिन्होंने आप में ही अपना चित्त एकाग्र कर लिया है उन्हें केवल आपकी कृपा से सच्चा विज्ञान प्राप्त हो जाता है।

'हे विद्येश्वर!' वेद आपको ही सारी विद्याओं का ईश्वर कहता है 'ईशान: सर्वविद्यानाम्'। अत्यन्त गहन अर्थ वाले जो शास्त्र हैं उनके अर्थ आपस में इस तरह मिले हुये हैं कि एक अर्थ करें या दूसरा अर्थ, इसका निर्णय बनता नहीं। इसीलिये बड़े-बड़े मुनि भी एक निर्णय पर नहीं आ पाते। 'अकृतक' - जिसको न किया जा सके ऐसे 'वचोगुम्फनै:' - वाक्यविन्यासों से भी कोई प्रयोजन नहीं होनेवाला। अथवा अकृतकवचन अर्थात् वेदवाणी का जो गुंफन है, एक के ऊपर एक वाक्य हैं, वे भी गूढ़ार्थ हैं उनसे भी क्या लाभ होगा! इसी प्रकार पुराणों का कितना भी पांडित्य हो जाये, उससे कोई फल मिलना नहीं। क्योंकि हर जगह तात्पर्य अर्थ तो गूढ, छिपा रहता है। अत: इसी प्रकार के तन्त्रों से भी क्या लाभ। 'पुरुषमतिभि:' - आदमी अपनी बुद्धि से इनका कुछ तात्पर्य निकालना चाहे तो सबका एक मत पर स्थिर होना दुष्कर है, उसका निरूपण करना असंभव है। अत: शास्त्रों से क्या फल! इस प्रकार के सारे शास्त्रोंका हाल क्या है? 'शास्त्रैरफलकलहोल्लासमात्रप्रधानै:'- फल कुछ नहीं होता है केवल झगड़ों के उल्लासमात्र की शास्त्रों में प्रधानता है! अत: जिन्होंने अपने अन्त:करण

को वश में कर लिया है, एकमात्र परमात्मा को चाहते हैं, उनके ऊपर जब आपकी कृपा होती है तब विद्या की प्राप्ति होती है। और कोई हेतु नहीं है। परम अद्वैत का अनुभव परमात्मा की प्रसन्नता से ही होता है इसका और कोई उपाय नहीं।।**२७**।।

पापिष्ठोऽहं विषयचपलः संततद्रोहशाली
कार्पण्यैकस्थिरनिवसतिः पुण्यगन्धानभिज्ञः।
यद्यप्येवं तदपि शरणं त्वत्पदाब्जं प्रपन्नं
नैनं दीनं स्मरहर तवोपेक्षितुं नाथ युक्तम् ।।२८।।

हे स्मरहर नाथ! अत्यन्त पाप-निष्ठ, विषयों की ओर चपलतावाला, लगातार ईश्वर-शास्त्रादि का द्रोह (विरोध) करनेवाला, कृपणता का मुख्य और स्थिर निवास, पुण्य की गंध से अपरिचित हूँ। ऐसा होने पर भी आपके चरणकमल की शरण में पड़ा हूँ अतः मुझ दीन का आप तिरस्कार करें यह आपके लिये उचित नहीं।

पापिष्ठोहम् - मैं निरन्तर पाप में ही स्थित हूँ। कामनाओं से मनुष्य निरन्तर प्रवृत्ति करता है। कामना शास्त्र-विरुद्ध कर्म करवाती है। वस्तुतः स्वयं कामना पापकर्म ही है। शास्त्रकारों ने कामना का त्याग करने को ही कहा है। कामना से हम प्रवृत्ति करते हैं चूँकि कामना के विषय को पाना चाहते हैं, प्राप्त करने में जो

रुकावट आती है उसे हटाना चाहते हैं, इसके लिये क्रोध भी कर डालते हैं। कामना व क्रोध दोनों न करने लायक ही बताये गये हैं। अतः सूक्ष्म दृष्टि से कामना स्वयं पाप ही है। 'विषयचपल' -- जिस प्रकार से मक्खी शहद देखते ही उसे खाने जाती है और शहद में उसके पर फँस जाते हैं, पर रोके नहीं रुकती है! इसी प्रकार विषय को देख मैं दौड़ पड़ता हूँ । शास्त्र व गुरु की आज्ञा भी है कि 'विषय की तरफ मत जाओ', फिर भी दौड़ पड़ता हूँ। 'संततद्रोहशाली' -- निरन्तर द्रोह करता हूँ। मनुष्य आजकल गुरु से दूर रहता है क्योंकि गुरु जी कहें और हम वह कार्य न करें तो दोष होता है, अतः दूर ही रहे तो ठीक है! इसी प्रकार श्रुत्यादि के प्रति द्रोह होता है कि 'शास्त्र ने किसी जमाने के लिये बात कही है, हमारे ज़माने के लिये तो नहीं'। अन्त में शिव के प्रति भी द्रोह हो जाता है कि 'भगवान् ने बड़ी खराब दुनिया बनाई'। ये सब मानसिक द्रोह हैं। 'कार्पण्यैकस्थिरनिवसतिः' - कृपणता मायने दूसरे के उपर कभी दया, कृपा नहीं करना। दूसरे को चाहे कितनी ही पीडा होवे उसे पीडा देकर भी किसी- न-किसी प्रकार अपना मतलब सिद्ध करना कार्पण्य के ऊपर मुख्य रूप से स्थिर निवास है। मनुष्य बड़े-से-बड़ा निष्ठुर व्यवहार करते हुए सोचता है 'इसके बिना जीवन कैसे चलेगा'? अर्थात् कृपणता को हेय दोष भी मानना

छोड़ देता है। 'पुण्यगन्धानभिज्ञ:' -- पुण्य की गंध को भी मैं नहीं जानता। पुण्य मायने शुभ कर्म। शास्त्र कहता है 'प्रतिदिन शिवलिंग का पूजन करो'। मुझे से सोमवार को भी पूजन नहीं होता है! इस प्रकार से परमात्मा की आज्ञा का उल्लंघन करता हूँ। यद्यपि मैं ऐसा {अहं} उक्त दोषों वाला हूँ, फिर भी आपके चरणकमलों को मैंने पकड़ लिया है। हे स्मरहर! हे नाथ! ऐसे दीन के प्रति आपकी उपेक्षा के योग्य नहीं हूँ। मुझ में दुष्कर्म ही भरे हैं परन्तु जिस प्रकार से कोई बिना विवाह करे बुड्ढा हो गया हो, उससे कोई लड़की शादी करने को तैयार हो तो वह लड़की के दोष थोड़े ही देखता है! इसी प्रकार मेरे में दोष ही दोष हैं पर आपकी शरण आ गया हूँ अत: उपेक्षा के योग्य नहीं हूँ।। **२८**।।

आलोच्यैवं मयि यदि भवान्नाथ दोषाननंता
नस्मत्पादाश्रयणपदवीं नार्हतीति क्षिपेन्माम्।
अद्यैवेमं शरणविरहाद् विद्धि भीत्यैव नष्टं
ग्रामो गृह्णात्यहिततनयं किं नु मात्रा निरस्तम् ।।
२९।।

हे नाथ! मेरे द्वारा यों निवेदन करने पर अगर आप मेरे अनन्त दोषों पर दृष्टि रखकर मुझे यह मानकर संसार-सागर में ही छोड़ दें कि 'यह हमारे चरणों के सहारे के मार्ग के अयोग्य है', तो यह समझ लीजिये कि

किसी भी शरण से रहित हो जाने के कारण भय से ही आज ही मैं नष्ट हो जाऊँगा। अहित करनेवाला पुत्र अगर माता द्वारा ही त्याग दिया जाये तो क्या गाँववाले उसे कोई सहारा देंगे?

हे नाथ! मेरे अंदर होने वाले अनन्त दोषों की आप आलोचना करें कि 'इतने दोष हैं, यह हमारे चरणों में आश्रय ग्रहण करने योग्य नहीं हैं' और ऐसा सोचकर मेरा त्याग करें तो फिर 'शरणविरहाद्' -- शरण से रहते होने के कारण 'भीत्यैव नष्टं विद्धि' -- 'मेरी कोई शरण नहीं है' इस डर से ही मैं समाप्त हो जाऊँगा ऐसा निश्चय समझ लीजिये। 'अहिततनयम्' -- कोई व्यक्ति अपनी माँ का अहित करता है, उसको माँ धिक्कारती है, कह देती है 'निकल घर से बाहर'; जिसे माँ ने घर से निकाल दिया, उसे क्या गाँव का कोई आदमी घर में रखेगा? विश्वास करेगा? जैसे वह बिना शरण के नष्ट होता है वैसे ही मैं भी हूँ तो अहिततनय, पर आपका पुत्र हूँ। आप निकाल देंगे, शरण न देंगे तो कौन शरण देगा?

यदि भगवान् कहें कि 'कुछ तो तुम में भी सुधार होना चाहिये' तो दीक्षित जी जवाब देते हैं --

क्षन्तव्यं वा निखिलमपि मे भूतभावि व्यलीकं
दुर्व्यापारप्रवणमथवा शिक्षणीयं मनो मे।
न त्वेवार्त्या निरतिशयया त्वत्पदाब्जं प्रपन्नं
त्वद्विन्यस्ताखिलभरममुं युक्तमीश प्रहातुम्।।३०।।

हे ईश! या तो भूत और भावी मेरे समस्त दोष माफ कर दीजिये और या दुष्कर्मों में प्रसक्त मेरे मन को अपने अनुशासन में कर लीजिये। निरतिशय पीडावश आपके चरणकमल में शरण लिये हुए एवं अपना सारा बोझ आप पर डाले हुए इस भक्त को आप यों ही छोड़ दें यह तो किसी तरह उचित नहीं है।

हे ईश्वर आप सबका शासन करने वाले हैं आप की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता है। मैंने भूतकाल में अत्यन्त अज्ञानदशा में पाप किये हैं, शास्त्रों से पता लगने पर भी कुछ पाप किये हैं तथा आगे भी कर सकता हूँ; भूत में किये व भविष्य में होनेवाले पापों को आप क्षमा करें। अथवा यदि आप क्षमा नहीं करना चाहते है तो आप ही मेरे मन को सुधारिये, आप तो ईश हैं। बुरे कर्म करने की जो मेरे मन की प्रवृत्ति है उसको आप ठीक कर दीजिये ताकि मेरा मन आपकी तरफ, जाये संसार की तरफ नहीं। 'निरतिशयया आर्त्या' -- मैंन सर्वथा आर्तभाव को प्राप्त कर लिया है। आर्त मायने जो कष्ट में हो। किसी भी तीव्र दु:ख से व्यक्ति आर्त होता है तो

पीडा सहन नहीं कर सकता है। मैं अत्यन्त आर्त होकर आपके चरणकमलों की शरण आया हूँ और आप मालिक के ऊपर मैंने सारा भार छोड़ दिया है। सुधारना है तो सुधारिये, माफ करना है तो माफ करिये। 'अमुं' - जो इस प्रकार शरण में आया है उसको छोड़ना ठीक नहीं। आप सर्वसाक्षी प्रत्यक् चैतन्य हैं, आप पर मैंने सब भार छोड़ दिया है। देहात्मभाव से जो मैंने किया वह सब व्यलीक [व्यर्थ] है, इसे जानकर आप सर्वसाक्षी प्रत्यक् चैतन्य पर सब छोड़ दिया है। ऐसे निवृत्ताभिमान की उपेक्षा करना आपके योग्य नहीं है ।।**३०**।।

क्यों योग्य नहीं है बतलाते हैं -

सर्वज्ञस्त्वं निरवधिकृपासागर: पूर्णशक्ति:
कस्मादेनं गणयसि न मामापदब्धौ निमग्नम्।
एकं पापात्मकमपि रुजा सर्वतोऽत्यन्तदीनं
जन्तुं यद्युद्धरसि शिव कस्तावताऽति प्रसंग: ।।३१।।

हे शिव! आप सर्वज्ञ, कृपा के अपार सागर व पूर्ण शक्ति से सम्पन्न हैं फिर अपत्ति समुद्र में डूबे हुए मुझ पर आप ध्यान क्यों नहीं दे रहे? भले ही मैं पाप-पुंज हूँ पर अभी तो भवरोगवश हर तरह अत्यन्त दीन हो चुका हूँ, अगर ऐसे एक जन्तु का आप उद्धार कर दें तो इतना करने से आप के लिये अनुचित्त क्या हो जायेगा?

हे परमेश्वर! आप सर्वज्ञ हैं। 'देहात्मबुद्धि से मैंने जो किया उसे व्यर्थ समझ मैंने सब भार आप पर छोड़ दिया है' यह जो मैं कह रहा हूँ इस बात को आप स्वयं जानते हैं। आप कृपा के ऐसे समुद्र हैं जिसकी कोई सीमा नहीं है। भगवान् शंकर की दया अ॒द्भुत है! भागवत में कहा है कि यदि भगवान् शंकर की कोई निन्दा करे तो कान बन्द कर वहाँ से चले जाना चाहिये। सामर्थ्य होये तो उसकी जीभ काट कर निकाल देवे। सारे प्राणी जिसे नमस्कार करते हैं ऐसे विश्वेश्वर की जो निन्दा करता है, सैकड़ों कल्पों में भी उसकी संसार से निवृत्ति संभव नहीं। शिवनिन्दा सुन जिसका चित्त व्याकुल न हो जाये वह चाण्डालभाव को प्राप्त हो नरक जायेगा। शिवनिन्दा के श्रवण में ही इतना दोष बताया है। किंतु जब स्वयं शिवनिन्दा करने वाले दक्ष का वीरभद्र ने सिर काट दिया तब आपने उस पर दया कर पुन: उसे प्रजापति पद पर आरुढ कर दिया! ऐसी भगवान् शंकर की अ॒द्भुत दया है।

'पूर्णशक्ति:' -- आप में सब शक्तियाँ हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् कहती है कि अनन्त कार्य करनेवाली सारी शाक्ति शिव की ही है। आपकी शक्ति स्वाभाविक है, कुछ करके प्राप्त नहीं है। इस प्रकार, आप सारे प्राणियों के सुख-दु:खादि को जानते भी हैं, दया के सागर

भी हैं पूर्ण सामर्थ्य वाले भी हैं; मेरी-दु:ख परम्परा को भी आप जानते हैं कि कैसे मैं मन के अधीन हो दु:खी हो रहा हूँ, चाहता भी हूँ पर मन पर नियन्त्रण नहीं कर सकता हूँ। मेरे लिये विधि ने जो लिखा है उसे आप ही मिटा सकते हैं क्योंकि आप पूर्णशक्ति हैं। आपत्ति में पड़े मेरी आपको रक्षा करनी चाहिये। मैं आपत्ति के समुद्र में डूब रहा हूँ पर आपका ध्यान इधर क्यों नहीं आ रहा है?

भगवान् कह सकते हैं 'ऐसे रक्षा करने से व्यवस्था गड़बड़ हो जायेगी, संसार नियमानुसार चलाना है'। अत: दीक्षितजी कहते हैं, हूँ तो मैं पापासक्त परन्तु मैं सब प्रकार से अत्यन्त दु:ख के कारण एक दीन *जन्तु* ही तो हूँ। यदि आप ऐसे एक का उद्धार कर देंगे तो कौन-सा अतिप्रसंग हो जायेगा? लौकिक हिसाब से था वेद-शास्त्र के हिसाब से नहीं करना चाहिये वह अतिप्रसंग कहलाता है। एक मेरी रक्षा करने से आपको अतिप्रसंग का दोष नहीं लगेगा।।**३१**।।

अप्पय दीक्षित कहते हैं कि वेद के समय से ही यह दया का मार्ग चला आया है कि 'मेरी रक्षा करो' इस प्रकार आर्त हो प्राणी जब आपसे प्रार्थना करता है तब आप रक्षा करते हैं। यह मार्ग पुराणों में बताया गया है। इस मार्ग के सिवाय हम जैसों के लिये कोई दूसरा मार्ग

है भी नहीं! भगवान् प्रार्थना सुनकर क्षमा करें, कल्याण करें, यही एक उपाय संभव है --

अत्यन्तार्तिव्यथितमगतिं देव मामुद्धरेति
क्षुण्णो मार्गस्तव बत पुरा केन वानाथनाथ।
कामालम्बे नत तदधिकां प्रार्थनारीतिमन्यां
त्रायस्वैनं सर्पाद कृपया वस्तुतत्वं विचिन्त्य ।।३२।।

देव! अनाथनाथ! अत्यधिक पीडा से दु:खी व असहाय मुझे बचाइये। दीनरक्षा के इस प्राचीन आपके मार्ग को किसने रोक दिया है? अरे! इससे अधिक अन्य कौन-सी प्रार्थनारीति का सहारा लूँ? वास्तविकता का विचार कर आप शीघ्र कृपाकर इस शरणार्थी की रक्षा कीजिये।

'अनाथनाथ !'-- जिसकी कोई रक्षा करनेवाला नहीं ऐसे अत्यंन्त पापियों के भी आप नाथ हैं इसीलिये आपका नाम 'पशुपति' भी पड़ा है। आप ने नियम रखा कि कोई है 'महादेव' बोल-भर दे, उसकी रक्षा करनी ही है। चाहे करोड़ों ब्रह्महत्या कर लें, महादेव नाम लेते ही सब पाप नष्ट हो जाते हैं। कोई महादेव कह रहा हो तो यमदूत भय खाकर उससे दूर चले जाते हैं क्योंकि उन्हें याद है कि मार्कण्डेय जब महादेव की पूजा कर रहे थे तब यमराज उन्हें लेने गये तो भगवान् ने ऐसी लात मारी कि यमराज ही मर गये! इसलिये यमराज-

किंकर शिव भक्तों से डरते हैं। समस्त पाप करने वाले की कोइ देवता रक्षा नहीं करते किन्तु आप करते हैं। आप अनाथनाथ हैं, आप सबकी रक्षा करेंगे, सबके मालिक हैं। मैं अत्यन्त कष्ट से व्यथित हूँ। 'अगतिम्' -- आपसे अतिरिक्त दूसरी मेरी कोई गति नहीं है। योगाभ्यास, ब्रह्माकार वृत्ति बनाना आदि मैं कुछ नहीं कर सकता हूँ। ऐसे आप मेरा उद्धार करें -- यह प्रार्थना ही मैं कर सकता हूँ। मुझे इस विपत्ति-समुद्र से आप ऊपर निकाल लें। इस प्रकार प्रार्थना करनेवाले की रक्षा करनेवाले का जो आपका चिर-अभ्यस्त अनादि मार्ग है, उसका नाश किसने किया है? अगर वह मार्ग रुका नहोता तो आप मुझे अब तक बचा ही लेते। प्रार्थना से भिन्न कौन-सी दूसरी रीति का आलम्बन करूँ? अर्थात् सिवाय आपकी प्रार्थना के, मेरे पास कोई उपाय नहीं है। अत: आप तुरन्त कृपा करके मेरा उद्धार कर दीजिये।

'वस्तुतत्वं विचिन्त्य' -- वस्तु चेतन की वास्तविकता यही है कि हृदय गुफा में प्रवेशकर अविद्या से भोक्ता व भोजयिता भाव को प्राप्त हुआ है। भोग करवाने वाले आप हैं, करने वाला मैं हूँ, दोनों में रहनेवाला चेतन एक है। आप सर्वज्ञ हैं, मैं अल्पज्ञ, आप सेव्य हैं, मैं सेवक। आप के पास महान् ऐश्वर्य है, मैं अशक्त हूँ। आप माया से जैसे चलायेंगे वैसे मैं चलूँगा, परन्तु हैं आप और मैं एक ही। जब आर्तभाव से आपका

स्मरण करता हूँ तब इस वस्तुतत्त्व का मेरे हृदय में प्रकाश हो जाये तो मेरे दु:ख की निवृत्ति हो जायेगी। मैं चेतन हूँ, सचमुच में मैंने पाप तो किया नहीं है; आप इसे जानते हैं, मैं नहीं जानता हूँ। मुझे माफ करने में इसलिये अतिप्रसंग न होगा कि मैंने सचमुच पाप किया नहीं है! आप को यह पता भी है। शरीर मन कर रहे हैं, उनके किये को गलती से मैं अपना मान बैठा हूँ। आप मेरे इस अज्ञान को हटाये, इसके लिये मेरे पास प्रार्थना के सिवाय कोई मार्ग नहीं है।।**३२**।।

अब कहते हैं कि मेरा अज्ञान आप नष्ट न करें, मुझे तड़पने दें तो आपका इससे फ़ायदा भी क्या? इ

एतावन्तं भ्रमणनिचयं प्रापितोऽयं वराक:
श्रान्त: स्वामिन्नगतिरधुना मोचनीयस्त्वयाऽहम्।
कृत्याकृत्यव्यपगतमतिर्दीनशाखामृगोऽयं
संताड्यैनं दशनविवृतिं पश्यतस्ते फलं किम् ।।३३।।

यह बेचारा (मैं) इतने अधिक चक्करों में (आप द्वारा) डाला गया हूँ कि अब सर्वथा थक गया हूँ, असहाय हो गया हूँ। स्वामिन्! अब आपके द्वारा मुक्त कर देने योग्य ही हूँ। कार्य-अकार्य को न समझनेवाला यह मानो एक दीन बन्दर है, इसे पीटकर इसके फैले दाँत देखते हुए आपको क्या फ़ायदा हो रहा है?

हे स्वामिन ! आप हमारे मालिक हैं आज तक न जाने कितनी अनेक योनियों में मैं गया; कभी घोर कुम्भीपाक नरक में भी गया, कभी स्वर्ग में भी गया, अनेक योनियों में गया, घूमता रहा। 'अयं वराक:' - मैं बेचारा अत्यन्त हीन जन्तु हूँ। आपने मुझे इस भ्रमण के चक्र में फँसाया है। 'श्रान्त:' -- घूमते-घूमते थक गया हूँ। 'अगति:' -- आपके सिवाय मेरी कोई गति नहीं है। ऐसे मुझे यहाँ से अब शीघ्र ही छुड़ा दीजिये। 'स्वामिन्'! कहकर बतलाते हैं कि मालिक ही पशु को खूँटे से छुड़ाता है। मनुष्य जन्म में मैं आ गया हूँ, मनुष्य जन्म में ही शिवात्मज्ञान सम्भव है। अत: आप मुझे शिवात्मज्ञान दे दीजिये ताकि इस जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाऊँ। '' 'कृत्याकृत्य-व्यपगतमति:' - क्या करना चाहिये क्या नहीं करना चाहिये, क्या कर्त्तव्य है क्या अकर्त्तव्य है -- यह बुद्धि ही मुझ में नहीं है, होती तो अनादि काल से घूमने पर ज्ञान प्राप्त कर ही लिया होता! अनादि काल से जब मैं अब तक पाप में फँसा हूँ, तब आगे शुभ कर्म करूँगा यह कहाँ सम्भव है। इसलिये मैं एक शाखामृग दीन बन्दर हूँ। बंदर एक डाल से दूसरी डाल पर कूदता रहता है। उसमें कोई कृत्याकृत्य की मति होती नहीं मेरा भी यही हाल है, इधर-उधर विषयों में डोलता रहता हूँ, अत: दीन शाखामृग की तरह हूँ।

बंदर की तरह ही मैं कदम-कदम पर गलती करता हूँ तब आप मारते हैं। बंदर को मारो तो दाँत निकालता है, ऐसे ही मैं भी दाँत निकालता हूँ। इन दाँतों को देखकर आपको क्या फल होता है? इस प्रकार मैं दु:खी जीवन बिता रहा हूँ, अब आप मुझे इस जीवन से छुड़ाइये। लोक में अपनी जीविका चलाने को लोग बंदर इत्यादि पशु का पालन कर लेते हैं, उन्हें मार-पीटकर उनसे खेल कराते हैं। ऐसों की तो रोज़गार यों चलती है पर आप परममहेश्वर हैं, आपको इससे क्या लाभ हो सकता है? अत: मुझे अब मुक्त ही करिये।।**३३**।।

माता तात: सुत इति समाबध्य मां मोहपाशै
रापात्यैवं भवजलनिधौ हा किमीश त्वयाप्तम्।
एतावन्तं समयमियतीमार्तिमापादितेऽस्मिन्
कल्याणी ते किमिति न कृपा कापि मे
भाग्यरेखा।।३४।।

माता, पिता, पुत्र आदि मोह के फंदों से मुझे सर्वथा बाँधकर यों भवसागर में गिराकर हाय! नाथ! तुम्हें क्या प्राप्त हुआ? इस (मुझ) पर इतने समय तक इतना दु:ख डल जाने के बाद भी कल्याणकारिणी आपकी कृपा क्यों नहीं उमड़ रही? क्या मेरी कोई सौभाग्य-सूचक हस्तरेखा भी नहीं है!

हे ईश्वर! मोहपाश से आपने मुझे बाँध रखा है। मोहपाश में बाँधने वाली माता गर्भ में रखती है, पालन करती है अत: मेरा माँ के प्रति कर्त्तव्य रहता है। 'तात:' - पिता, 'सुत:' पुत्र, इसी प्रकार पत्नी, मामा, चाचा आदि हैं। इन सबके विचारों से ही मनुष्य को मोह हाता है। इन मोहपाशों से बाँधकर संसार-समुद्र में गिरा कर आपको क्या लाभ हुआ? आज तक इतनी पीडा को प्राप्त करा कर भी आपकी जो कल्याण करनेवाली कृपा है वह मुझ पर क्यों नहीं हो रही है? कोई मेरी ऐसी दुर्भाग्यसूचक रेखा ही है कि इतना होने पर भी आपके द्वारा मेरी रक्षा नहीं हो रही है! इस प्रकार अत्यन्त दु:ख से विलाप कर कहते हैं कि आप मेरी रक्षा कर ही दीजिये, न करेंगे तो आपको दोष लगेगा। मैं आपसे अलग होकर इतना तो तड़प लिया, आपको कोई इससे फायदा भी नहीं हुआ! अब तो मेरा अज्ञान नष्ट कर दीजिये, नहीं तो दुनिया आपको दोष देगी।।**३४**।।

भुड्क्षे गुप्तं बत सुखनिधिं तात साधारणं त्वं
भिक्षावृत्तिं परमभिनयन् मायया मां विभज्य।
मर्यादाया: सकलजगतां नायक: स्थापकस्त्वं
युक्तं किं तद्वद विभजनं योजय स्वात्मना
माम्।।३५।।

हे पिता! माया द्वारा स्वयं से मुझे अलग कर भिक्षावृत्ति का बढ़िया अभिनय करते हुए आपकी-मेरी साधारण सुख का छिपकर आप भोग कर रहे हैं! आप तो सारे संसार के नेता हैं, मर्यादाओं के संस्थापक हैं, ऐसे आप द्वारा मो यों माया से बँटवारा करना उचित है क्या? बताइये। निज स्वरूप से मुझे अभिन्न बना दीजिये।

हे तात! पिता! जो कुल का विस्तार करे वह पिता है, इस सारे प्रपंच का विस्तार करनेवाले आप ही हैं। 'साधारणं गुप्तं सुखनिधिं' - अनंत जो आनन्द है वह साधारण है, साधारण मायने समान है; अर्थात् उसी अखण्ड आनन्द के ऊपर आप भी अधिष्ठित हैं और मैं भी। जीव व ईश्वर दोनों एक आनन्द में अधिष्ठित हैं, दोनों का वही एक अधिष्ठान है। वह सुखनिधि गूढ है, छिपा हुआ है। निधि तो वह दोनों की एक जैसी है पर गुप्त होने के कारण मुझे पता नहीं है जबकि आपको पता है। श्रुति कहती है कि ब्रह्मा के सुख से लेकर केला खाने तक का सुख अर्थात् जितने छोटे-बड़े सुख हैं वे सब उस सुख के ही कण हैं। इसीलिये वह सुखनिधि है।

एक ब्राह्मण ने किसी बनिये के पास बीस हजार रुपये जमा कर दिये, वह पंडित को ब्याज देता था।

बनिये को घाटा हो गया। किसी ने ब्राह्मण को बताया कि दीवाला होने वाला है। ब्राह्मण ने सोचा कि रुपया डूब जायेगा अत: उसके घर गया। जैसे ही पण्डित जी को आते देखा बनिया समझ गया, नमस्कार कर बोला 'मैं आपके पास आने वाला था अनुष्ठान भी करानेवाला था, आप ही आ गये बहुत अच्छा हुआ'। ब्राह्मण को आदर से बैठाया। अंदर आकर पत्नी से कहा 'खूब अच्छा भोजन बनाओ'। वह बोली 'आपने तो घाटे की वजह से रोक लगा रखी है'! वह बोला 'जो कहता हूँ करो'। ब्राह्मण को खूब बढ़िया भोजन कराया, दक्षिणा भी दो पैसे की जगह अठन्नी दी। फिर कहा 'चातुर्मास्य के बाद अनुष्ठान का मुहूर्त निकालिये'। पंडित ने घर आकर पत्नी से कहा 'उसको घाटा हो गया यह ग़लत खबर दी थी'। ब्राह्मण के ऊपर पाँच रुपये खर्च कर दो तो वह समझेगा कि तुम करोड़पति सेठ हो! उस बनिये की तरह आपने परम अभिनय से मेरा हाल कर रखा है। मुझे तो कभी कुछ दे देते हैं, कभी कुछ छोटा-मोटा भोग करा देते हैं असली सुखनिधि परमानन्द का आप स्वयं भोग कर रहे हैं। इसका किसी को भान न हो इसके लिये आप भिक्षावृत्ति का अभिनय करते हैं। भिक्षावृत्ति मायने भिक्षा ही जिसके जीवन का साधन हो, पर भिक्षा आपकी वृत्ति है नहीं, दिखाते ऐसा हैं। रुद्र एक बार में ही सारे संसार को एक कौर में खा जाते हैं। इस

प्रकार से सर्वभक्षण करनेवाले की भिक्षा-वृत्ति थोड़े ही है। संसार के कल्याण के लिये वे ऐसा करते हैं। भिक्षा का अभिनय भोग के लिये करते हैं। वेद स्पष्ट कहता है 'हे, अन्नपते आप अन्न के पति हैं, अत: हमको अन्न देवें'। सारे संसार को जो अन्न देनेवाला है उसको भिक्षा कौन दे सकता है! कहीं-कही देवताओं को शिक्षा देने के लिये भिक्षा का अभिनय करते हैं।

'मायया मां विभज्य' माया के करण ही जीव-ईश्वर का भेद है, माया के कारण ही आपने स्वयं से मुझे अलग कर दिया है। धन, भूषण, खेती आदि दे दी पर जो गुप्त आनन्दसुख है वह आपने अपने पास रखा है! अज्ञान के द्वारा आपने मुझे विभक्त कर दिया है और माया के ऊपर अपना अधिकार रखा है। अज्ञान के कारण मैं इन धनादि में ही सुख मानता रहता हूँ। ऐसा भी संभव नहीं है कि शास्त्रों से अज्ञान दूर कर लूँ क्योंकि शास्त्र भी आपके अधीन हैं। समस्त वेदादि शास्त्र आपके नि:श्वास हैं, सारे शास्त्रों का ज्ञान आपके अधीन हैं अत: उनका ज्ञान भी आप करा देंगे तब ही होगा, अन्यथा नहीं। और आप हैं कि वह सुख मुझे नहीं दे रहे हैं। संसार के अंदर मर्यादाओं के आप ही बनाने वाले हैं व उन्हें स्थापित करने वाले भी हैं; ऐसे होते हुये भी आप तो साधारण सुखनिधि का अकेले भोग करते हैं और अनित्य दु:ख-रूप संसार आपने मुझे दिया। यह जो विभाजन,

बँटवारा आपने किया, क्या यह ठीक है? इस ग़लती को सुधारने के लिये मुझे संसार से हटा, अज्ञान की निवृत्ति कराकर, परमानन्द में स्थित कर दीजिये। 'बत' -- कब मेरे भाग्य में ऐसा दिन होगा कि इस प्रकार परमानन्द की प्राप्ति हो जाये।।**३५**।।

शरणागत दीक्षित कहते हैं कि मोक्ष नहीं मिल सकता तो भी यदि इतनी कृपा कर दें तो मैं सन्तोष कर लूँगा --

न त्वा जन्मप्रचयजलधेरुद्धरामीति चेद्धी
रास्तां तन्मे भवतु च जनिर्यत्र कुत्रापि जातौ।
त्वद्भक्तानामनितरसुखै: पादधूलीकिशोरै-
रारब्धं मे भवतु भगवन् भावि सर्वं शरीरम्।।३६।।

हे भगवन्! अगर आपका निश्चय है कि जन्म समूहरूप संसारसागर से मेरा उद्धार नहीं करना है, तो ऐसा ही हो; मेरा चाहे जिस जाति में जन्म हो; पर इतनी कृपाकरें कि मेरे सारे भावी शरीर आपके उन भक्तों के चरणों की धूलि के कणों से बनें जो आपसे अन्य किसी को सुख नहीं जानते हैं।

हे भगवन्! -- आप सर्व-ऐश्वर्य से युक्त हैं। 'जन्म-प्रचय अर्थात् एक के बाद दूसरा जन्म रूप जो

समुद्र है, उस संसार-समुद्र से 'न त्वा उद्धरामि' मैंने तेरा उद्धार नहीं करना है'। 'इति चेद्धी' -- यदि आपका ऐसा निश्चय है तो ऐसा ही रहे। हे परमात्मन् आपकी इच्छा आपके सामने रख दी, आगे आप जो करेंगे उसी में मैं प्रसन्न हो जाऊँगा। आपकी इच्छा नहीं है तो मैं बन्धन में पडा रहूँगा। पर कृपाकर इतना तय कर दीजिये कि आपकी इच्छानुसार या मेरे कर्मानुसार जहाँ-कहीं भी मेरा जन्म हो वहाँ आपके भक्तों के चरण-कमलों की धूलि मेरे ऊपर लगती रहे। इस जन्म में तो मन में आ गया कि शिव में मेरा मन लगे, पर पता नहीं फिर ऐसा मौका आये, न आये। शिवभक्त वह जो 'अनितरसुख' है जिसे शिव के सिवाय अन्य कोई चीज़ सुखरूप दीखती नहीं। शिव से अन्य पदार्थों में जिनको सुख-बुद्धि है ही नहीं ऐसे भक्तों की 'पादधूलिकिशोरैः'-- चरणधूलि के छोटे-छोटे कणों से 'में भावि सर्वं शरीरम् आरब्धं भवतु' - भविष्य में मेरे शरीरों का निर्माण हो। 'आरब्धं' की जगह 'आलिप्तं' भी पाठ है, तदनुसार भाव है कि जहाँ-जहाँ शिवभक्त हों वहीं मेरा जन्म हो, उनके चरण-कमलों के कण मेरे ऊपर सदा पड़ते रहें, इसी से अपार संसार-समुद्र कट जायेगा। मोक्ष नहीं देना चाहते हैं तो भक्तों का सानिध्य तो दे ही दीजिये।।**३६**।।

भगवान् कह सकते हैं 'मेरे भक्त तो बड़े-बड़े विद्वान हैं, तू पापी है, तुझे वहाँ कैसे पैदा करूँ?' तो दीक्षितजी कहते हैं --

कीटा नागास्तरव इति वा किं न सन्ति स्थलेषु
त्वत्पादाम्भोरुहपरिमलोद्वाहिमन्दानिलेषु।
तेष्वेकं वा सृज पुनरिमं नाथ दीनार्त्तिहारिन्
आ तोषान्मां मृड भवमहांगारनद्यां लुठन्तम् ।।३७।।

हे नाथ! दीनों की पीडा मिटानेवाले! मृड! आपके चरण पंकज के परिमल को ढोनेवाली मंद-मंद बहनेवाली वायु से पवित्रित स्थानों में क्या कीडे, साँप, पेड़ आदि नहीं होते? मुझे उनमें से ही कोई एक पैदा कर दीजिये। संसाररूप बड़े-बड़े अंगारों की नदी में लोटते हुए मुझे आप तब तक ऐसी योनियाँ दें जब तक आपको सन्तोष न हो जाये।

'त्वत्पादाम्भोरुहपरिमलोद्वाहिमन्दानिलेषु'--
आपके चरण मानो कमल हैं उनका जो परिमल है, सुगंध है उसको वहन करने वाली जहाँ मन्द हवा बहती है ऐसे स्थलों में जहाँ आपके उत्तमोत्तम भक्त होंगे वहीं कीट, साँप, पेड़, लता आदि भी होंगे ही; उनमें से कोई एक मुझे आप वहाँ बना दें। 'दीनार्त्तिहारिन्!' आप दीनों के

दु:ख दूर करने वाले 'मृड' अर्थात् आनन्द- स्वरूप हैं। यह संसार अंगारों का नदी है इसमें मैं लुढ़क रहा हूँ। पर आपके भक्तों के बीच रहूँगा तो आपके चरण-कमलों से लगी वायु मिल जायेगी जिससे थोड़ी देर आनंद मिलेगा। जब तक आप मुझे मुक्त न करना चाहें तब तक ऐसे स्थलों पर मुझे रखिये। आन्तरिक भाव है कि उन जगहों में शान्ति तो मिलेगी ही, साथ ही कभी-न-कभी आपकी नज़र पड़ेगी तो मोक्ष भी मिल जायेगा ! यह अप्पयजी की विनय की पराकाष्ठा है। विनय इनमें स्वाभाविक रूप से था। इनकी जीवनकथा में ऐसे उनेक स्थल हैं जहाँ इनकी विनम्रता व्यक्त होती है। उनका दृढ निश्चय था कि शास्त्रज्ञान का रहस्य केवल भगवान् की कृपा से ही जाना जा सकता है अत: यहाँ कहा कि चाहे मैं उनके भक्तो के बीच कीड़ा बन कर उत्पन्न होऊँ, जहाँ शिवभक्तों की सन्निधि मुझे मिलती रहे वहीं रहना मेरे लिये पुरुषार्थ है।।**३७**।।

भगवान् के भक्तों से सम्बद्ध जन्म पाने के लिये ज़रूरी है कि जीवन में चित्त परमेश्वर में तल्लीन रहे उत: मरते समय भगवच्चिन्तर ही हो। इस स्थिति के लिये दो श्लोकों से प्रार्थना करते हैं --

कालेकण्ठस्फुरदसुकलालेशसत्तावलोक-
व्यग्रोदग्रव्यसनिसकलस्निग्धरुद्धोपकण्ठे।
अन्तस्तोदैरवधिरहितैरार्तिमापद्यमाने-
ऽप्यंघ्रिद्वंद्वे तव निविशताम् अन्तरात्मन्! ममात्मा।।३८।।

हे अन्तरात्मन् ! कण्ठ में हल्के-हल्के चलती प्राणवायु का लेश है (या नहीं) यह देखने में सावधान व परेशान सब प्रियजनों से घिरे होने समय एवं भीतर से असीम अनवरत पीडा देते हुए रोगादि से दु:खी होने समय भी आपके दोनों चरणों में मेरा अन्तरात्मा प्रवेश करे।

भगवान् हमारे अन्तरात्मा हैं। वे ही साक्षी, मन आदि के प्रेरक हैं। केनोपनिषत् में इसी तरह परमेश्वर का परिचय दिया गया है। बृहदारण्यक में एक पूरे ब्राह्मण में अन्तर्यामी का वर्णन है। कूटस्थ चैतन्य ही वह स्वरूप है जिससे वास्तविक अभेद है। अत: जो नित्य कैवल्यरूप है उसी में हमारा चित्त प्रवेश करे अर्थात् उसी आकार का बने तभी परम कल्याण संभव है। जीव-ईश्वर दूध-पानी जैसे नहीं मिल सकते क्योंकि दूध-पानी पृथक् पदार्थ हैं, कुछ देर मिले दीखें भी तो रहते अलग ही हैं। भावावेश से जैसे लोगों में भूतादि से एकता प्रतीत होती है वैसी ही जीव-ईश्वर की एकता स्थायी कल्याण नहीं दे सकती क्योंकि वह एकता ही स्थिर नहीं रहती। सुषुप्ति

आदि में वह भावावेश नहीं रह जाता तो एकता भी नहीं रहती। आग से तपे लोहे की तरह भी जीव-ईश्वर एक होने से नित्य मोक्ष नहीं होगा क्योंकि वैसा संबंध सदा अनित्य होता है। मालिक5नौकर की एकता-सा अभेद तो व्यर्थ ही है क्योंकि नौकर सदा भयभीत अत: दु:खी ही रहता है। भोगों की सुविधा मिलने पर भी परतंत्रता का दु3ख सालता रहता है। जीव कार्य न होने से कार्य-कारण के अभेद जैसा जीव-ईश्वर का अभेद संभव नहीं। अत: जीव-ईश्वर की एकता का मतलब है कि इनका भेद प्रतीत करानेवाली उपाधियों का बाध होकर स्वाभाविक अद्वैत ही प्रकाशमान रहे। चित्त जब भगवान् के चरणों में प्रवेश कर जायेगा अर्थात् व्यष्टि उपाधिसमष्टि उपाधि में लीन हो जायेगी तब दोनों उपाधियों से रहित केवल सच्चिदानन्द बना रहेगा। यही मोक्ष है जो वास्तवमें सनातन है, अज्ञान से आवृत होकर प्रतीत नहीं हो रहा।

जीवन में जब हर तरह के अच्छे-बुरे अनुभवों के समय मन को शिव में लगायेंगे तभी मरते समय शिवस्मरण संभव होगा। जब तक मरते समय भगवान् की वृत्ति न रहे तब तक सद्गति का निश्चय नहीं। मरते समय कोशिश कर ऐसी वृत्ति नही बनाई जा सकती यह स्पष्ट करने के लिये यहाँ मरते समय का वर्सान किया। छांदोग्यापनिषत् में (**८.६.४**) तथा अन्यत्र भी मृत्युकालका वर्णन है। शिवभुजंग में (श्लो.**२० - २४**) भी

मार्मिक वर्णन है। उस समय असहय कष्ट होता है मानों हज़ारों बिच्छु एक-साथ दँस रहे हों! साँस उखड़ जाती है, गला कफ़ से रुक जाता है, शरीर जलने लगता है, प्रेमीजनों की याद आकर उनके वियोग का व सब छोड़कर जाने का घोर दु3ख होता है। ऐसी दशा में कोई सावधानी से शिववृत्ति नहीं बला सकता! वह तो जिसने जीवनभर प्रयास किया है उस पर शिवकृपा हो तभी बनेगी। ('अवधिरहितै:' की जगह 'अविधिरहिताम्' भी पाठ है, तब वह आर्ति का विशेषण है। भाव में अन्तर नहीं है।) ।।**३८**।।

मृत्यु के समय के अनात्मवृत्ति-जनक विक्षेप बताकर तब भी भगवत्-शरणता की प्रार्थना करते हैं --

अन्तर्बाष्पाकुलितनयनान् अन्तरंगान् अपश्यन्
अग्रे घोषं रुदितबहुलं कातराणाम् अश्रृण्वन्।
अत्युत्क्रान्तिश्रमम् अगणयन्नन्तकाले कपर्दिन्!
अंघ्रिद्वंद्वे तव निविशताम् अन्तरात्मन् ! ममात्मा ।।३९।।

हे कपर्दिन्! हे अन्तरात्मन्! भीतर ऑसुओं से भरे आकुल आँखोंवाले अपने घनिष्ट परिजनों की ओर कुछ भी ध्यान न देते हुए; सामने मचे दु:खियों के उस कोलाहल को, जिसमें रोना ही सर्वाधिक है, न सुनते हुए; प्राण

निकलने की पीडा को भी कुछ न गिनते हुए; अन्तकाल में मेरा आत्मा आपके चरणयुगल में ही विलीन हो।

पुन: मृत्युशय्या पर पड़े के आस-पास का वर्णन किया ताकि यह कार्य तब के लिये टाला नहीं जा सकता यह स्पष्ट हो जाये। शिष्ट परिजन मुमूर्षु के पास स्फुट रोने से बचते हैं ताकि उसकी हिम्मत न टूटे, फिर भी उनकी आँखों में रोके आँसू तो दीख ही जाते हैं। स्त्रियाँ, बालक आदि दहाड़ मारकर रोने लगते हैं जिससे बहुत शोर होता है ओर अन्य लोग भी बेबस होकर रो देते हैं। ऐसे में मरणासन्न भी रोने लगता है या अशक्त हो तो भी उन्हीं के दु:खों का चिन्तन करने लगता है। जैसे छोटे बच्चों को चोट लगे तो तब ज़ोर से रोते हैं जब माता आदि कोई दीखे वैसे मरते हुए लोग तब खुद रोते-चिल्लाते हैं जब उनके प्रिय बन्ध मित्रादि आस-पास हों। उस दशा में प्रिय-जनों को देखने से दु:ख बढ़ता ही है। अगर कहीं उस समय कोई दुश्मन दीख जाये तो मरते हुए के मन में आता है 'अरे ! यह तो बच ही गया, मैं ही मर रहा हूँ। क्या पता यह मेरी संपत्ति आदि हथियाकर उसका उपभोग करे'! यों उसका दु:ख ही बढ़ता है। अत्यन्त संयमाभ्यासी साधक भक्त ही इस परिस्थिति में बहिर्मुख वृत्तियाँ बिना बनने देकर केवल परमेश्वर पर मन स्थिर कर पाता है। तत्त्व-साक्षात्कार जिसने जीवन में परिपक्व कर लिया, उसके लिये तो अन्तकाल की

मनोदशा का कोई महत्त्व नहीं क्योंकि वह पहले ही मन से अतीत हो चुका है किन्तु जिसे वैसा दृढ बोध नहीं उस भक्त को, उपासक को तो सावधान रहना ही पड़ेगा क्योंकि गीता आदि में अंतकाल के स्मरण का महत्त्व स्पष्ट किया है।।**३९**।।

परमेश्वर के ध्येय रूप का वर्णन करते हैं --

चरुस्मेराननसरसिजं चन्द्ररेखावतंसं
फुल्लन्मल्लीकुसुमकलिकादामसौभाग्यचोरम्।
अन्त: पश्याम्यचलसुतया रत्नपीठे निषण्णं
लोकातीतं सततशिवदं रूपमप्राकृतं ते।।४०।।

हे भगवन् ! निरन्तर कल्याण देनेवाला आपका अलौकिक एवं प्रकृतिजन्य भूतादि से अनिर्मित ऐसा रूप मन में देखता रहता हूँ -- आपका मुखकमल मनोहारी मुस्कान से शोभित है, चन्द्र-कला आपका शिरोभूषण है, वह रूप इतना सुन्दर है कि खिली हुई मालती के फूलों की कलिओं की माला के सौभाग्य को मानो चुराये हुए है, रत्ननिर्मित वेदी पर स्थित पार्वती-समेत वह रूप अति दिव्य है।

भगवान् का ज्ञेय रूप सच्चिदानन्द है, ध्येयरूप विविध हैं, उनमें एक रूप का यहाँ कुछ वर्णन है। शब्द

व रूप -- ये ही ध्यान एकाग्र करने के आलम्बन हैं अत: ध्येय रूप शास्त्रों में र्णित हैं। ये रूप भी सदा कल्याण देते हैं, ध्यान के समय भी और फलकाल में भी। भगवान् के अति सुन्दर विग्रह का ध्यान करना स्वयं ही असीम आनंद है। संसार के लोगों के रूप देखने लायक ही नहीं हैं, मज़बूरी में देखने पड़ते हैं! सभी दु:खों से, ग्रन्थियों से, भयों से,क्लेशों से ऐसे विकृत बने हुए हैं कि न्हें देख किसी भी बुद्धिमान् को कभी प्रसन्नता नहीं होती। भगवद्रूप इस से विपरीत असीम शांत व सौम्य है, उसका आभास भीदीखने पर चित्त सर्वथा विकसित हो जाता है, प्रात: ध्यान कर ले तो निदभर वह प्रसन्नता बनी रहती है। लौकिकों के रूपों का दर्शन परलोक में भी कोई अच्छा फल नहीं देता जबकि भगवान् का रूप ध्यान में देखने से परलोक में भी कल्याण ही होता है। निष्काम के चित्त को उस रूपकादर्शन अतीव शुद्ध बनाता ही है। अत: वह रूप सतत शिवद, लगातार कल्याणप्रद है। वह लोकातीत भी है अर्थात् जितना विषय-क्षेत्र हम सामान्य सामर्थ्य से समझ सकते हैं उससे यह ऊर्ध्व है, शास्त्र से ही पता चलता है, अत्यन्त एकाग्र चित्त में ही परमेश्वर की कृपामात्र से प्रकट होता है। यह अप्राकृत है अर्थात् प्रकृति के कार्य जो भूत-भौतिक पदार्थ, उनसे नहीं बना है वरन् मायिकमात्र है, ईशसंकल्प से ही रचित है। इस रूप में मुख प्रसन्न है। भगवान् की प्रसन्नता अकारण होने से नित्य है। उनके प्रसन्न रूप का दर्शन भी सनातन

प्रसन्नता देता है। इस प्रसन्नता में क्योंकि किसी विषयादि की सापेक्षता नहीं है इसलिये यह परम शांत भी है। मस्तक पर चंद्र की कला भगवान् शंकर के रूपों में सामान्य है। चंद्रकला भगवान् की करुणा का प्रकाशन करती है, चंद्र को क्षमाकर उसके जीवनरक्षण के लिये ही भगवान् ने उसे वह स्थान दिया। इससे हमें हिम्मत बँधती है कि हमारे भी दोष वे क्षीण कर अपना लेंगे। भगवान् का सौन्दर्य वैसा है जैसा हमें प्रकृति में मिलता है अर्थात् इसमें कृत्रिमता, बनावटीपना नहीं है अत: मालती-सुषमा का उदाहरण दिया। वस्तुत: प्रकृति ही परमेश्वर का सौन्दर्यविस्तार है। मूर्ति आदि तो हम बनाते हैं, प्रकृति भगवान् ने बनाकर फैलाई है, उसका सौन्दर्य वैसा ही है जैसा भगवान् चाहते हैं। अत: उनके निजीरूप का भी सौन्दर्य ऐसा ही है। इसलिये कहा कि मानो इस सुन्दरता को भगवान् के रूप ने चुरा लिया है! रत्न-सिंहासन पर भगवान् हिमालय-पुत्री पार्वती सहित विराजते हैं। इस छवि का निरन्तर ध्यान चलता रहे तो सदा कल्याण निश्चित है।।**४०**।।

शिवदर्शन इतना दुर्लभ है कि यदि सपने में भी मिल जाये तो जीव कृतार्थ हो जाये। किं च, जाग्रद् दशा में जो अधिकाधिक प्रयास से यह ध्यान करता रहेगा उसे ही सपने में ऐसा दर्शन संभव होगा क्योंकि जाग्रत्संस्कारों

से स्वप्न बनता है। अत: यत्नातिशय के विधानार्थ कहते हैं ङ

स्वप्ने वाऽपि स्वरसविकसद् दिव्यपंकेरुहाभं
पश्येयं किं तव पशुपते पादयुग्मं कदाचित्।
क्वाऽहं पाप: क्व तव चरणालोकभाग्यं तथापि
प्रत्याशां मे घटयति पुनर्विश्रुता तेऽनुकम्पा।।४१।।

हे पशुपति! क्या मैं स्वप्न में भी कभी आपके स्वाभाविक विकासवाले अलौकिक पंकजों जैसे चरणयुगलों का दर्शन पाऊँगा? कहाँ पापी मैं और कहाँ आपके चरणों के दर्शन का सौभाग्य! फिर भी आपकी प्रसिद्ध कृपा मुझ में आशा पैदा कर रही है कि ऐसा अवश्य होगा।

भगवान पशुपति हैं, पशुओं के भी पालक हैं तो अपने भक्तों का पालन करेंगे इसमेंक्या संशय ! भक्तिपूर्वक भगवान् का ध्यान करते रहें तो स्वप्न में भी उनका दर्शन होती ही है। प्राय: कहते हैं कि जाग्रत् में जो अधिक स्वाभाविक हो जाता है वह स्वप्न में उपलब्ध होता है अत: स्वप्न में शिवदर्शन के लिये जाग्रत् में शिव विचार का ही अधिकाधिक सहजता से प्रयास कर्तव्य है। यद्यपि काम-क्रोधदि से एवे अन्य अकार्यों से एकत्र पाप मन को शिवदर्शन में अयोग्य बनाते हैं तथापि

भगवच्चिन्तन मन को इतना पवित्र कर देता है कि शिवदर्शन हो ही जाता है। जैसे मुट्ठी में पानी पकड़ें तो बह ही जाता है, रुक नहीं सकता ऐसे शिवभक्तों में पाप रह नहीं सकता, समाप्त हो ही जाता है। दुर्लभ तोशिवभक्ति है, भक्त के लिये शिवप्राप्ति तो अतिसुलभ है। प्रारंभ में इष्टदशर्न कुछ अस्पष्ट होता है मानो सपना हो, फिर धीरे-धीरे स्पष्टता आती है। इस दृष्टि से यहाँ 'स्वप्न वाऽपि' का भाव है कि दर्शन का प्रारंभ तो हो, फिर धीरे-धीरे स्पष्टता- स्थिरता आ जायेगी। भगवान् की कृपा प्रसिद्ध है, अनेक निजद्रोहियों का उन्होंने तुरंत कल्याण किया है। दक्ष ने इतना अपमान किया कि सती ही जल गयीं फिर भी उसे तुरंत भगवान् ने माफ़ कर दिया! इस कृपा के भरोसे ही यह विश्वास होता है कि हम अति नीच हों तोभी भगवान् की भक्ति में रत रहेंगे तो उनके चरणकमलों का दर्शन पा ही जायेंगे।।**४१**।।

भगवान् का भिक्षाटन का नाटक भी उनका महत्त्व छिपा नहीं पाता -

भिक्षावृत्तिं चर पितृवने भूतसंघैर्भ्रमेदं
विज्ञातं ते चरितमखिलं विप्रलिप्सो: कपालिन्।
आवैकुण्ठद्रुहिणमखिलप्राणिनाम् ईश्वरस्त्वं
नाथ स्वप्नेऽप्यहमिह न ते पादपद्मं त्यजामि।।४२।।

हे कपालधारी ! हे नाथ ! आप चाहे भिक्षा से निर्वाह करें या भूतों के समूहों सहित श्मशान में घूमें, दुनिया को ठगनेवाले आपका यह सारा चरित मैंने समझ लिया है1 ब्रह्मा-विष्णु समेत सारे प्राणियों के आप ईश्वर हैं अत: इस जन्म में मैं आपके चरणद्वय सपने में भी छोड़नेवाला नहीं हूँ।

भगवान् को भी धर्मादि के नियमों में बँधा समझने वालों के इस मायापाश को तोड़ने के लिये शंभु ने भिक्षाटन लीला की यह पुराणों में प्रसिद्ध है। वास्तव में वे भिक्षा से निर्वाह नहीं करते पर उसका नाटक कर ऋषि आदि को शिक्षित करने का प्रयास करते ही हैं। यद्यपि ठगनेवाला विप्रलिप्सु होता है तथापि जैसेस्वयं हैं नहीं वैसे स्वयं को दिखाना -- इतनी समानता से उन्हें विप्रलिप्सु कहे गये हैं। कुछ पाने की इच्छा से विप्रलिप्सु का व्यवहार होता है। भगवान् यही चाहते हैं कि जीव अपनी वास्तविकता पहचान ले, इसी के लिये सारा नाम-रूप का आडंबर ओढे रहते हैं। इसी प्रकार भूत-प्रेत, पिशाचों की संगति में श्मशान में विचरण करते हैं। शरीर जलाने की जगह श्मशान है। यह सारा संसार ही शरीरों के जलाने का स्थान है। इसमें भगवान् भूतगणों सहित रहते हैं; आकाशादि भूतों की उपाधिवाले सद्रूप शिव ही संसार में सर्वत्र उपस्थित हैं। ये लीला-

रूप भगवान् के महत्व को छिपाते नहीं, अधिक स्पष्ट करते हैं अत: इनके वर्णनों से उनकी अतिशय दया पता चलती है। वैकुण्ठ श्रीहरि का नाम है, द्रुहिण ब्रह्माजी को कहते हैं, इन दानों समेत सभी जन्तुओं के आप निरवधि ईश्वर हैं, शासक हैं। इस बात को समझ लेने से अब भूल में भी आपके चरण नहीं छूट सकते।।**४२**।।

पूर्वोक्त लीलाविग्रहों की तरह ही अन्य भी लीला-विग्रह भगवान् के ऐश्वर्य के बारे में संदेह नहीं पैदा कर सकते इ

आलेपनं भसितमावसथ: श्मशानम्
अस्थीनि ते सततमाभरणानि सन्तु।
निह्नोतुमीश सकलश्रुतिपारसिद्धम्
ऐश्वर्यमम्बुजभवोपि च न क्षमस्ते।।४३।।

हे ईश! आप चाहे भस्म रमाएँ चाहे श्मशान को वासस्थान बनायें या हड्डियाँ हमेशा आपके आभरण हों, सब वेदों के अवसानों में (उपनिषदों में) सिद्ध आपके ऐश्वर्य को कमलभव ब्रह्मा भी छिपाने में अक्षम हैं।

हे ईश्वर ! जिस प्रकार कोई अपने शरीर पर गोरोचन, केसर, कस्तूरी लगाता है वैसे आप भस्मी लगाते

हैं ! लोगों की दृष्टि में भस्मी अच्छी चीज़ नहीं है। संसारी लोग भस्मी लगाने से डरते हैं पर आप भस्म ही लगाते हैं। आपकी रहने की जगह श्मशान है। श्मशान के नाम से ही लोग डरते हैं जबकि आपका वहीं निवास है। गहने हड्डियाँ हैं। हड्डी को आदमी छूये तो जाकर स्नान करता है। महिम्न:स्तोत्र में भी कहा है कि बाहर का आपका रूप अमंगल है पर वह सब अमंगलों को मंगल बना देता है। अनात्म शरीर अत्यन्त घृणित मल-मूत्र का थैला है, पर आत्मा के सम्बन्ध से परम पवित्र हो जाता है। विशेषकर भगवान् शंकर भस्म क्यों लगाते हैं? संसार में किसी चीज़ को जलाओ तो अन्तिम परिणाम भस्म है। इसी प्रकार ज्ञानाग्नि से सारे जगत् को आत्मज्ञानी ने भस्म कर दिया है। शिव ही आत्मज्ञानी हैं, सारे जगत् को उन्होंने बाधित कर चारों ओर रख दिया है, वही भस्म है। शरीर इसलिये श्मशान है। शरीर के अंदर जितने भी अवशिष्ट भोग हैं वे सब जलते चले जा रहे हैं। शरीररूपी श्मशान में आत्मज्ञानी रहता है चारों ओर से रूप रस गंध शब्द और स्पर्श के आते ही वह उन्हें ज्ञानाग्नि से भस्म कर डालता है। स्वयं अप्पय ने लिखा है कि आपकी ज्ञानाग्नि के द्वारा सारा चराचर जगत् जल गया अत: तो अखिल ब्रह्माण्ड श्मशान है, वहाँ आप रहते हैं इसलिये श्मशान को आवसथ कहा जाता है। उनका भस्म लगाना मूर्खों के लिये अवमानना की चीज़ है पर विद्वान जानते हैं कि

असली बात क्या है: श्मशान में जब तक शरीर जल नहीं जाता तब तक लोग लौटकर आते नहीं, वैसे ही जब तक शरीर का सब भोग समाप्त हो नहीं जाता तब तक शरीर को देखते रहना है। भगवान् शंकर की भूषणभूत हड्डियाँ साधारण नहीं! भगवान् विष्णु के अवतारों से प्राप्त की हड्डियों को ही उन्होंने धारण कर रखा है। गले में ब्रह्मा जी के सिरों की माला है। इस प्रकार भगवान् शंकर ने जो अस्थियाँ धारण की हैं वे उनकी महिमा को बताती हैं। सारे वेदों में खासकर वेदान्तों में सिद्ध जो आपका ऐश्वर्य है, अम्बुजभव ब्रह्माजी भी आपके उस ऐश्वर्य को कम करने में समर्थ नहीं हैं। भगवान् शंकर सबके कारण हैं। वे सारे तत्त्वों के कारण हैं यह वेदों सहित पुराणों, स्मृतियों, महाभारत आदि में सर्वत्र स्पष्ट किया गया है। सर्वरूपों को धारण करने वाले वही हैं, वही सर्वव्यापी हैं, शिव हैं। श्रुतियाँ स्पष्ट करती हैं कि भगवान शंकर ने ब्रह्मा को बनाया, फिर उन्हें ज्ञान दिया। वह ब्रह्माजी भी यदि आपकी महिमा का निषेध करें तो ज्ञान- विरुद्ध ही कहेंगे अर्थात् वह भी प्रमाण पूर्वक ऐसा नहीं कह सकते।।**४३**।।

यद्यपि और भी देवताओं का परमेश्वररूप से वर्णन मिलता है तथापि वह अभूतार्थवाद है, प्रशंसामात्र है, वास्तव में एक ही ईश्वर है और वह महादेव ही है --

विविधमपि गुणौघं वेदयन्त्वर्थवादा:
परिमितविभवानां पामराणां सुराणाम्।
तनुहिमकरमौले तावता त्वत्परत्वे
कति कति जगदीशा: कल्पिता नो भवेयु: ।।४४।।

हे चन्द्रकलाधर! वेदों में आये प्रशंसापरक वाक्य सीमित वैभववाले निकृष्ट देवताओं में अनेक प्रकार के गुणसमूहों का भले ही बोधन करें, किन्तु यदि उन सबका उतना वैभव मान लिया जाये तो असंख्य जगदीश्वर हमें मानने पड़ेंगे (जो बात ही हास्यास्पद है) ।

किसी भी विधि की प्रशंसा को जिससे कहा जाता है वह अर्थवाद होता है। विधि विरुद्ध की निन्दात्मक अर्थवाद भी होता है। अर्थवाद का उद्देश्य अर्थवाद में जिस बात को बतला रहे हैं उसको बताने में नहीं वरन् जिस विहित या निषिद्ध कर्म की प्रशंसा या निन्दा कर रहे हैं उसको बताने में है। अनेक ईश्वरवाद असम्भव है अत: एक ही ईश्वर का प्रतिपादन हो सकता है। वेद कहीं कहता है कि सारे देवताओं में इन्द्र श्रेष्ठ है। कहीं कहा कि देवताओं में विष्णु ही परम है, उसके बाद बाकी सब देवता आते हैं। अन्यत्र कहा कि सबसे पहले ब्रह्मा हुये, वही कर्ता व रक्षक हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न देवताओं के भिन्न-भिन्न प्रसंगों में प्रशंसात्मक वाक्य मिलते हैं। वस्तुत: इन देवताओं का ऐश्वर्य तो परिच्छिन्न है, कोई

वृष्टि का तो कोई प्रकाश का अधीश्वर है। देवताओं की प्रशंसा किसी-न-किसी गुण की प्रशंसा है पर जिसके अंदर ये सारे गुण कल्पित हैं, जो सबका अधिष्ठाता है, वही एकमात्र परमात्मा है, सारी शक्तियों का अधिष्ठान है। बाकी सब देवता तो सीमित वैभव वाले हैं। अलग-अलग देवता की अलग-अलग शक्ति को देख लोग उन्हें शक्तिमान समझते हैं पर सब शक्तियों का अधिष्ठान शिव ही है। ये देवता कैसे हैं? कहते हैं 'पामराणाम्'। अविचारशील लोगों की अविद्या काम कर्म से प्रवृत्ति होती है अत: उन्हें पामर कहते हैं, पर देवता लोग पामर कैसे? शास्त्रकारों ने कहा है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर व अन्य देवताओं में विक्षेप शक्ति का आविर्भाव है अत: उन्हें पापों की प्राप्ति नहीं होती है। लोक में भी देखा जाता है कि देवता उपास्य हैं, उनकी उपासना कर इच्छा की पूर्ति भी होती है। ऐसे उपास्य देवताओं को पामर कैसे कह दिया? इसका कारण है कि इनके अंदर विशेष तेज़ तो है और सामान्यत: पाप की प्राप्ति नहीं पर कहीं-कहीं पाप की प्राप्ति देखी जाती है। गौतम-पत्नी अहल्या के साथ बुरा कर्म करने के कारण इन्द्र को दोष लगा उसका फल भी उसने भोगा। ब्रह्माजी में भी उषा के प्रति आकर्षण हुआ, शिव के सामने ही उन्होंने झूठ भी बोला और उनका सिर भी नोच लिया गया। विष्णु भगवान् के भी अनेक दोष प्रसिद्ध हैं। भगवान् शंकर से देवताओं का वैभव भी परिमित है और

कोई-न-कोई दोष की प्राप्ति भी होती है इसलिये उन्हें पामर कहा है। अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होते हुये भी देवताओं का वैभव परिमित है भले ही जब उनके गुणों की प्रशंसा करते हैं तब उनको भी परमेश्वर कह दिया जाता है।

'तनु हिमकर मौलै!' - छोटा-सा चन्द्रमा जिनके सिर पर है। जिस प्रकार लोग दूसरी-दूसरी ध्वज़ा रखते हैं जिससे पता लगता है कि कौन राजा जा रहा है उसी प्रकार भगवान् शंकर चन्द्रमा का झण्डा रखते हैं। जहाँ मन है वहाँ शिव है। चन्द्रमारूपी मन शिव में परिच्छिन्नता को लाता है क्योंकि अन्त:करण में परिच्छिन्नता का भाव है पर उससे पता लग जाता है यहाँ भगवान् शंकर हैं। अन्त:करण के अंदर ही परमात्मा का दर्शन हो जाता है तब निश्चय हो जाता है कि मोक्ष अब निश्चित है।

'तावता त्वत्परत्वे' - यदि देवताओं की उन प्रशंसाओं से उन्हें परमात्मा मान लिया जाये तो कितने ही जगदीश कल्पित नहीं हो जायेंगे! पर ऐसा संभव नहीं। एकाधिक ईश्वर होने पर आपस में विरोध होगा जिससे यह संसार नष्ट हो जायेगा। अत: अनेक ईश्वर नहीं हो सकते।।**४४**।।

भगवान् की सन्निधि में सेवा का मौका माँगते हैं --

विहर पितृवने वा विश्वपारे पुरे वा
रजतगिरितटे वा रत्नसानुस्थले वा।
दिश भवदुपकण्ठं देहि मे भृत्यभावं
परमशिव तव श्रीपादुकावाहकानाम्।।४५।।

हे परमशिव! आप चाहे श्मशान में विचरण करें या लोकातीत अपने दिव्य पुर में रहें, चाहे हिमालय के पठारों में रहें या रत्नपर्वत की चोटियों पर; हे देव! आपके निकट रहनेवाले जो आपकी चरण-पादुका संभालते हैं उनका सेवक मुझे बना दीजिये।

जहाँ भूत-प्रेत घूमते हैं वह पितृवन है। श्मशान में पितृ घूमते हैं अत: उसे रुद्र-भूमि भी कहते हैं। श्मशान में भगवान् शंकर का, भूतनाथ का मन्दिर होता है। भगवान् शंकर अत्यन्त कृपालु हैं, 'कहते हैं मरते समय भी कोई मेरे सामने आ गया तो मैं उसकी हाजिरी मान लूँगा'! मरे हुये का भी कल्याण हो इसलिये वे श्मशान में रहते हैं, यह भगवान् शंकर की असीम कृपा है। वस्तुत: शिव तो आकाश की तरह सर्वव्यापक हैं, फिर श्मशान को ही रुद्रभूमि क्यों कहते हैं? श्मशान को देख कर बाकी सब जने वहाँ से दूर रहते हैं, सर्वव्यापी होने से भगवान् शंकर वहाँ हैं हीं बाकी देवता वहाँ रहते नहीं, अत: प्रसिद्धि हो गई कि वह रुद्रभूमि है। वाराणसी

भी पितृवन ही है क्योंकि काशी में संकल्प करते समय 'महाश्मशाने' कहते हैं। पितृ मायने जो रक्षण करे। वन अर्थात् सम्भजनीय। एकमात्र शिव हमारे रक्षक हैं इस प्रकार से वे भजनीय हैं। अप्पय दीक्षित यात्रा करते हुये कावेरी तट पर पहुँचे, वहाँ जम्बुकेश्वर का मन्दिर है और दूसरी और भगवान् विष्णु का रंगनाथ मन्दिर है। पहले दिन भगवान् शंकर का दर्शन कर रुक गये, दूसरे दिन रंगनाथजी का दर्शन करने गये। वहाँ हल्ला मच गया कि 'यह शैव है, इसे आने नहीं देंगे, पीटेंगे'। उन्होंने वहीं से भगवान् विष्णु की प्रार्थना की कि 'हे नाथ! मेरा चित्त भी एक रंगशाला है, यहाँ भी आप नित्य निवास करते हैं मन्दिर के अंदर आप शेष-शैय्या पर लेटे हैं तथा हमारे हृदय में सदा निवास करते हैं। यहाँ मैं आपकी सेवा नहीं कर पाता हूँ मेरे अंदर आत्मरूप से तो आप हैं ही, मुझे इसी में शान्ति है'। 'वही मेरे रक्षक हैं, मेरे हदय में मौजूद हैं' ऐसा निश्चय मनुष्य को बनाना चाहिये। 'विश्वपारे पुरे' - अधिष्ठान स्वरूप आपका असली विश्व से अतीत पुर है। जहाँ कहीं भी सत्-चित्-आनंद की प्रतीति हो वहाँ उपाधियाँ विभिन्न होंगी, उनकी उपेक्षाकर परमात्मस्वरूप को ही समझते रहना बुद्धिमानी है। दीक्षितजी कहते हैं कि आपकी सेवा करने के मैं लायक नहीं हूँ तो मुझे उनकी सेवा में नियुक्त कर दीजिये जो आपकी चरणपादुका संभाला करते हैं।

भाव है कि आप चाहे जहाँ घूमेंगे, मुझे कहीं आपकी सेवा में नियुक्ति मिल भी गयी तो वहीं रह जाना पड़ेगा, आप अन्यत्र भी जाते रहेंगे। पर आपकी चरणपादुका संभालनेवाले तो हमेशा आपके साथ रहेंगे, यदि उनका मैं अनुचर बन गया तो सदा आापकी संनिधि का लाभ मिलेगा। किं च शास्त्रों में कहा है कि शिव की सेवा से अधिक शिवभक्त की सेवा का माहात्म्य है! शिवभक्त के प्रति अपराध का कोई प्रायश्चित्त नहीं है। अगर कोई शिव के प्रति अपराध करे तो वे उसे क्षमा कर देते हैं पर भक्त के प्रति किये अपराध को कभी क्षमा नहीं करते हैं। इसलिये शिवभक्त को और ज़्यादा सेव्य कहा है। अत: नायनार शिवभक्तों की सदा सेवा करते थे। इसलिये भी दीक्षितजी ने ऐसी प्रार्थना की है।।**४५**।।

बलमबलममीषां बल्बजानां विचिन्त्य
कथमपि शिव कालक्षेपमात्रप्रधानै:।
निखिलमपि रहस्यं नाथ निष्कृष्य साक्षात्
सरसिजभवमुख्य: साधितं न: प्रमाणम्।।४६।।

हे शिव! नाथ! इन दुर्बल देवताओं में क्या बल व क्या कमज़ोरी है इस पर किसी तरह चिंतन उन शास्त्रादि द्वारा हो तो सकता है जिनका प्रधान फल समय गँवाना है (पर मैं ऐसा चिन्तन क्यों करूँ?) स्वयं ब्रह्मा आदि ने

शास्त्रों से निचोड़कर जो सारा रहस्य स्पष्ट कर दिया है वही हमारे लिये प्रमाण है।

सारे देवता 'बल्बज' हैं, स्वत: अपने बल से बलवाले नहीं हैं। बल्बज एक तरह की घास को कहते हैं, लक्षणा से इसका अर्थ दुर्बलता है। भगवान् शंकर ने देवताओं को जो अधिकार दिया वही उनका बल है। एक की अपेक्षा दूसरा ज़्यादा बल वाला देवता है -- इसका ऊहापोह केवल काल का क्षेप है, समय का व्यर्थ व्यय है। देवताओं में कौन ज़्यादा बलवाला कौन कम, कौन बड़ा कौन छोटा है? -- ये सब बातें करना समय का व्यर्थ व्यय है, सिवाय समय बिताने के इसका कोई फल नहीं है। 'कथमपि विचिन्त्यं' - चाहे शास्त्र से, चाहे तर्क से विचार करो, किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सकते हो। यह याद रखने की बात है कि क्योंकि प्राय: मनुष्य सोचता है इस नहीं तो उस देवता से कार्य सिद्ध होगा! वास्तविकता है कि केवल शिवेच्छा को पूरा होना है, उसके विरुद्ध कुछ नहीं हो सकता। हे नाथ! मैं इस विषय में किसी का भी पक्ष नहीं लेता। सारे वेदों के तीनों काण्डों में जो रहस्य बताया है, आगमों में जो रहस्य बताया है उसे ब्रह्मा आदि ने ही स्पष्ट कर दिया है। रहस्य वह जिसका उपदेश एकान्त में दिया जाता है अर्थात् जो परमात्मा की कृपा से उपदेश प्राप्त होता है। साक्षात् ब्रह्मा, इन्द्रादि द्वारा वह रहस्य बताया गया है

और वही हमारे लिये प्रमाण है। कर्म, ज्ञान, उपासना का रहस्य बतानेवाली उपनिषद् है, वहाँ यही कहा है कि सारे ईश्वरों का परम महेश्वर सच्चिदानन्द परमदेवता शिव ही है। हे परमात्मन्! आपके सिवाय कोई ज़्यादा ओज वाला नहीं है। उपनिषद् में रहस्य बताया है कि एकमात्र प्रत्यगात्मा से अभिन्न जो परमात्मा है वही परम बल है, वही परम महेश्वर है। अत: परमशिव का ऐश्वर्य सचमुच का ऐश्वर्य है, बाकी देवताओं का ऐश्वर्य उनकी कृपा से है। अपने शरीर, मन, इन्द्रियाँ बुद्धि इत्यादि के अंदर कौन बलवाला है? कोई कहता है कि असली बल देनेवाला प्राण है। कोई कहता है कि शरीर प्रधान है। प्राण चलते रहें, शरीर में लकवा पड़ जाये तो क्या लाभ! कोई कहता है कि शरीर-प्राण बलवान् हों पर इच्छाशक्ति अर्थात् मन बलवान् न हो तो कुछ न होगा मन प्रधान है। कई गुण्डे होते तो दुबल-पतले हैं, लगता है कोई ताकत नहीं होगी, पर उनकी इच्छाशक्ति बड़ी बलवान् होती है। अत: कुछ मानते हैं कि इच्छाशक्ति सबसे प्रबल है। दूसरे कहते हैं कि बुद्धि, विवेक, ज्ञान प्रधान है। इन्हीं मान्यता भेदों के आधार पर साधनाओं का भेद हो जाता है। शरीर को प्रधान माननेवाला कर्म को प्रधानता देगा, मन को प्रधान मानने वाला भक्ति को प्रधानता देगा, देता है, ज्ञानवाला कहता है बुद्धि को प्रधान माननेवाला विवेक का साधन अपनायेगा, प्राण को प्रधान माननेवाला प्रणायाम करेगा। सत्य तो है कि ये कोई प्रधान नहीं, प्रधान तो

परमशिव वह आत्मतत्त्व है, वही सब देनेवाला है। उस आत्मतत्त्व को पकड़ लिया तो सारी साधनायें सफ़ल हैं। शास्त्रों का अवलोकन कर जो रहस्य ब्रह्मादि ने निकाला है वह यही कि परमात्मा ही प्रत्यगात्मा है। यही बोध जीव के कल्याण का साधन है व हमारे लिये प्रमाण है।।**४६**।।

न किंचिन्मे चेत:समभिलषणीयं त्रिभुवने
सुखं वा दु:खं वा मम भवतु यद् भावि भगवन्।
समुन्मीलत्पाथोरुहकुहरसौभाग्यमुषि ते
पदद्वंद्वे चेत: परिचयमुपेयान्मम सदा।।४७।।

हे भगवन्! त्रिभुवन में कुछ नहीं जो मेरे मन को इष्ट हो। सुख या दु:ख जो कुछ मुझे होना है वह होता रहे। मेरी इतनी ही प्रार्थना है कि खिलते हुए कमलों के कोश के सौन्दर्य को भी मात करनेवाले आपके चरणद्वय से मेरा चित्त हमेशा परिचित बना रहे।

'हे भगवन्'! - जिसके पास सारे ऐश्वर्यादि हों अर्थात्सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादि बोध, स्वतन्त्रता, कभी लुप्त न होनेवाली शक्ति, और अनन्त शक्तियाँ हों वह महेश्वर अर्थात् भगवान् है। सब जीवों को वह जानता है, आत्मज्ञान को जानता है, योग का वह प्रर्वतन करता है। ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तप, सत्य, क्षमा, धैर्य, स्रष्टत्व,

आत्मसंबोध और अधिष्ठातापना -- ये सात अव्यय भगवान् में रहते हैं। इस प्रकार, आप छह अंगों व इन अव्ययों से युक्त भगवान् हैं। 'त्रिभुवने किंचित् मे चेत:समभिलषणीयं न' - त्रिभुवन के अंदर किसी चीज़ की अभिलाषा करूँ कि 'यह मुझे प्राप्त हो', ऐसा कुछ नहीं है। संसार में मैं कुछ नहीं चाहता हूँ। ('न किंचिद् मेनेऽत: समभिलषणीयं' ऐसा टीकाकार का पाठ है। 'मेने' अर्थात् 'स्मरामि' -- 'अत:' क्योंकि वेदरहस्य समझ लिया है इसलिये कुछ भी इच्छायोग्य याद नहीं आता -- यह अर्थ है।) कदाचित् व्यवहार के लिये किसी चीज़ की अभिलाषा हो भी जाये पर उसके प्रति सम्यक् अभिलषणीय की भावना नहीं होती है। सारे त्रिभुवन में कोई चीज़ ऐसी नहीं है जिसकी मैं अभिलाषा करता हूँ। जब तक जीता हूँ, तब तक प्रारब्ध के वश से दु:ख या सुख होता ही रहेगा, उसके लिये आवश्यक वस्तु उपस्थित भी होगी ही, इसलिये सारे संसार में कोई चीज़ ऐसी नहीं है जिसकी मैं अभिलाषा करता हूँ। पर इतना चाहता हूँ कि भगवान् के चरणों का ध्यान बना रहे।, 'समुन्मीलत्' - जो खिला हुआ हो। 'पाथोरुह' - जल में पैदा होने वाला कमल। उसके अंदर जो 'कुहर' - गड्ढा है, उसका जो 'सौभाग्य' अत्यन्त सुंदर रंग है, उसके मुषि अर्थात् उसे चुरा लेने वाले जो भगवान के दोनों पाद हैं, वे मेरे अनुभव में, स्मरण में, आते रहें।

यदि चित्त सदा आपके चरणकमलों में रहेगा तो सुख-दु:ख सब होगा पर बंधन नहीं होगा। अपना हृदय ही कमल है, उसमें जो दहराकाश है वह 'कुहर' हुआ। दहराकाश का 'सौभाग्य' चिन्मात्रता है। उसमें हमें को परिच्छिन्नता की प्रतीति होती है। भगवान् के तत् व त्वम दो पद हैं उनका सही ज्ञान व्यापक चेतन को बतला देता है। जो व्यापक चेतन हमारे हृदयकमल में हैं उसका भान हमें सदा बना रहे तो बाधितानुवृत्ति से सुख दु:ख का भान हमें पीडित नहीं करेगा।।**४७**।।

अब कहते हैं कि आपकी स्तुति करने में भी मैंने अपराध ही किया है!

उदरभरणमात्रं साध्यमुद्दिश्य नीचे-
ष्वसकृदुपनिबद्धामाहितोच्छिष्टभावाम्।
अहमिह नुतिभंगीमर्पयित्वोपहारं
तव चरणसरोजे तात जातोऽपराधी।।४८।।

हे तात! केवल पेट भरने के लिये नीच लोगों के सामने बार-बार उनकी प्रशंसा कर जिसे जूठा बना चुका था उसी स्तुति प्रकार की आपके चरणकमल में भेंट चढ़ाकर अब मैं अपराधी बन गया हूँ!

हे तात! तात मायने पिता। छोटा बेटा पिता को लात भी मार देता है तो पिता क्षमा कर देता है। आप हमारे पिता हैं, मैंने आपके साथ बुरा किया है। शरीर, मन, इन्द्रियाँ, बुद्धि, विद्या सब आपका दिया हुआ ही है परन्तु मैंने इससे क्या किया? पेट भरने को ही मैंने इसे साधन बनाया। लौकिक भोगों को ही मैंने साध्य बना लिया। वह साध्य कैसे प्राप्त हो - उस उद्देश्य से 'नीचेषु' - राजा आदि नीचों की असकृत् - बार-बार स्तुति की। शरीर से भी जाकर राजाओं का या अन्य लोगों का सम्मान किया, वाणी से उनकी प्रशंसा की, बुद्धि से उनकी प्रशस्तियाँ बनाईं। हम लोगों की प्रशंसा करने में भगवान् की दी हुई चीज़ों का प्रयोग करते हैं! इस प्रकार जीवों के उपयोग में ला देने से स्तुति में उच्छिष्टता, जूठापन आ गया। पहले दूसरों की स्तुतियाँ कर रखी हैं अत: अब जो उच्छिष्ट हो चुकी उससे आप की स्तुति कर रहा हूँ यह अपराध ही है। शरीरादि सबसे संसार का व्यवहार किया सब इन्द्रियों को संसार के व्यवहार में लगाया, अब उन्हें परमेश्वर के अर्पण करें तो जूठी चीज़ ही चढ़ा रहे हैं! उसी हाथ से भगवान् को पुष्प चढ़ाते हैं उसी से सांसारिक व्यवहार भी करते हैं ऐसे ही आपके चरणकमलों में मैंने यह स्तुति चढ़ाई पर वस्तुत: इसके द्वारा मैं आपका अपराधी हूँ। मेरे पास कोई चीज़ शुद्ध नहीं जो आपको अर्पण करूँ। पर आप तात हैं। दे रहा हूँ तो आप लेंगे ही और क्षमा

भी कर देंगे। शबरी की-सी स्थिति है: अच्छा बेर पास था नहीं, जिन बेरों को अनेक वर्षों से खाती थी उनको ही चढ़ाया इसलिये उच्छिष्ट बेर थे, ऐसे ही मेरे पास जो जैसे साधन हैं वैसे ही उन्हें अर्पण कर रहा हूँ।

जिन ज्ञान, इत्यादि का प्रयोग अन्य लोगों की स्तुति में भी कर चुका हूँ उनका ही आपके लिये प्रयोग कर रहा हूँ। जो कुछ भी हम परमात्मा को अर्पण कर रहे हैं वह उच्छिष्ट है। वस्तुतस्तु उत् मायने ब्रह्म, ब्रह्म से अलग किया हुआ ये सारा संसार उच्छिष्ट ही है, इस का बाध कर मैं केवल अधिष्ठानरूप देख रहा हूँ। ब्रह्म-दृष्टि करना ही उच्छिष्टभाव की निवृत्ति है। यही यहाँ अप्पय्यजी का तात्पर्य है। इससे सारे कर्म और उपासनाओं का गर्व दूर हो जाता है। मैं चाहे कर्म करूँ या उपासना, बिना द्वैत-दृष्टि के कर नहीं सकता। द्वैत-दृष्टि से उच्छिष्ट भाव आ जाता है। इस द्वैत-दृष्टि का त्याग करने से ही सारे अभिमानों की समाप्ति है।।**४८**।।

क्षमा प्रार्थना करते हैं --

सर्वं सदाशिव सहस्व ममापराधं
मग्नं समुद्धर महत्यमुमापदब्धौ।
सर्वात्मना तव पदाम्बुजमेव दीनः

स्वामिन्ननन्यशरणः शरणं प्रपद्ये।।४९।।

हे सदाशिव! मेरे सारे अपराध सह जाइये, क्षमाकर दीजिये, महान् आपत्तियों के समुद्र में डूबे इस भक्त का उद्धार कीजिये। हे स्वामिन्! मेरा और कोई रक्षक नहीं, अत्यन्त दुःखी हूँ। मैं हर तरह आपके चरणकमलों की ही शरण लेता हूँ।

हे सदाशिव! आप हमेशा ही कल्याणस्वरूप हैं। अपराध क्षमापन के लिये उनकी सर्वानुग्रह मूर्ति का स्मरण करते हैं। मेरे सारे अपराधों को आप 'सहस्व' - क्षमा करें। आपकी ही दी हुई इन्द्रिय आदि का मैंने दुरुपयोग किया पर अब समझ गया हूँ कि मैं कुछ नहीं हूँ, शिव ही है, ब्रह्म से अतिरिक्त मेरा कुछ भी नहीं है। अब तक द्वैतबुद्धि से जो अपराध किये उन्हीं के कारण मैं आपत्ति के समुद्र में डूबा हुआ हूँ। द्वैतदृष्टि का होना ही आपत्ति के समुद्र में डूबना है। आप उन दोनों को क्षमा कर दें। अप्पय्यजी को सब प्रकार की उपलब्धि थी, किसी भी चीज़ की कमी नहीं थी, वेदान्त के प्रकाण्ड विद्वान् थे, सब लोग सम्मान देते थे, उन्हें राग न था, परम वैराग्यवान् थे। फिर भी आपत्ति उनके लिये थी कि अपने स्वरूप से भिन्न चीजों की प्रतीति होती थी। उससे, निकलने के लिये प्रार्थना करते हैं कि आपत्ति समुद्र मे डूबा हूँ, यहाँ से निकालिये। हे स्वामिन्! मैं

अनन्य की शरण हूँ; आपसे मुझ से अनन्य हैं, ऐसे आपके सिवाय मेरा कोई सहारा नहीं हो सकता है। अन्य दृष्टि से देवताओं की शरण ली जा सकती है पर प्रत्यगात्म रूप शिव की तो अनन्य शरण ही ली जाती है। मैं सब प्रकार से दीन हूँ, आपकी शरण आता हूँ, आप कृपा करें।।**४९**।।

आत्मर्पणस्तुतिरियं भगवन्निबद्धा
यद्यप्यनन्यमनसा न मया तथापि।
वाचापि केवलमयं शरणं वृणीते
दीनो वराक इति रक्ष कृपानिधे माम्।।५०।।

हे भगवन्! यद्यपि एकाग्र चित्त से मैंने इस आत्मार्पण-नामक स्तुति की रचना नहीं की तथापि हे कृपासागर! 'यह बेचारा असहाय सिर्फ़ बोलकर मेरी शरण ले रहा है' ऐसा विचारकर मुझे नचा लीजिये।

हे भगवन् ! अनन्य मनवाला होकर मैंने इस स्तुति को निबद्ध नहीं किया। फिर भी, वाणी से ही आपकी शरण ले ली है तो आप मेरा त्राण अवश्य करें। कोई अत्यन्त दीन बेचारा यदि वाणी से भी शरण लेता है तब भी आप कृपानिधि होने से उसकी रक्षा करें यही उचित है। सर्वथा एकाग्र मन वाला होकर मैंने प्रार्थना नहीं की

पर वाणी से तो आपकी शरण ली है, इसलिये कृपानिधि होने से कृपया आप शरण दीजिये। 'न अनन्यमनसा' से सूचित होता है कि दीक्षितजी ने नशे में यह स्तोत्र रचा जैसा कि प्रारंभ में बताया था।।**५०**।।

इस प्रकार इस भक्तिभाव से भरपूर स्तोत्र का अत्यंत संक्षेप में विचार किया। इसे समझकर इसका पाठ करते रहने से इसमें कहे भाव मन में स्फूरित होंगे तो भक्ति का उन्मेष होगा और महादेव के प्रति अनन्यभाव आयेगा जिसके फलस्वरूप वस्तुत: आत्मा अर्थात् अपने अभिमान का शिव को समर्पण हो जायेगा जो वास्तविक कल्याण है।